अध्याय–तृतीय

नाट्याशास्त्र में वर्णित तालशास्त्र

- 3:1 नाट्याशास्त्र के विभिन्न अध्यायों में वर्णित तालशास्त्र पक्ष
- 3:2 नाट्याशास्त्र में तालाध्याय
- 3:3 नाट्याशास्त्र में तालध्याय में वर्णित ताल

तृतीय अध्याय

नाट्यशास्त्र में वर्णित तालशास्त्र

एतिहासिक दृष्टिकोण से देखा जाए, तो जिस प्रकार साहित्य का आधार छंद है उसी प्रकार संगीत का आधार स्तम्भ ताल दिखायी देता है। कौन–सा छंद किस प्रकार की प्रधानता का उद्भव करता है, यह छंद कितने समय में पूर्ण हो रहा है ? उसके मापन क्रिया के अनुरूप ही ताल की भी निर्मिति हुयी होगी, तथा मनुष्य ने अपनी ज्ञान इन्द्रयों तथा प्रकृति द्वारा, इसका निर्माण किया होगा। लय या गति के सम्बन्ध विज्ञान में यह साक्ष्य प्राप्त होते है, कि सम्पूर्ण ब्रह्मण्ड़ में एक निर्धारित लय या गति विद्यमान है अर्थात् लय ब्रह्मण्ड़ में सहज रूप में विद्यमान है, परन्तु ताल का उद्भव मानव की अपनी चेतना के आाधार पर हुआ, ताल प्रकृति में सहज रूप में विद्यमान नहीं था। मनुष्य नें अपने जीवन को एक निर्धारित व्यवस्था व अनुशासन में स्थापित करने के लिए अपने समय को दिन–रात, सप्ताह, माह और साल में सीमित कर प्रकृति के साथ अपना ताल–मेल प्रतिपादित किया। प्रकृति द्वारा निर्मित सम्पूर्ण काल–क्रम की जो गति है, वही संगीत में ताल और लय के रूप में विद्यमान है, जैसे जीवन में निर्धारित काल क्रम की गति के अभाव में सुख तथा समृद्धि हीन प्रतीत होती है। उसी तरह संगीत ताल रहित होने पर वह संगीत वैशिष्ट रंजकता उत्पन्न नहीं करता। संगीत में ताल के द्वारा ही अलग–अलग प्रकार के सौन्र्दय भाव उत्पन्न होते है, जो संगीत को रजंकता प्रदान करते है। प्रस्तुत अध्याय में शोधार्थी द्वारा अपने शोधकार्य के ध्यान में रखते हुए, नाट्याशास्त्र के समस्त अध्यायों में वर्णित ताल पक्ष, ताल वाद्य व ताल शब्द की चर्चा की गयी है। साथ ही नाट्याशास्त्र के तालाध्याय की सम्पूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की गयी है।

3:1: नाट्याशास्त्र के विभिन्न अध्यायों में वर्णित तालशास्त्र पक्ष

नाट्याशास्त्र के समस्त 36 अध्यायों के अंर्तगत प्रस्तुत की गयी, ताल की शास्त्रीय चर्चा को शोधार्थी के द्वारा समझानें का विन्रम प्रयास किया गया है। शोधार्थी द्वारा नाट्याशास्त्र पर लिखी गयी, टीकाओं का अध्ययन करने के पश्चात्, इस अध्याय का शोधकार्य किया गया है। नाट्याशास्त्र ग्रन्थ पर उपलब्ध समस्त हिन्दी अनुवादों के संस्करणों का अध्ययन करने का प्रयास शोधार्थी द्वारा कार्य किया है तथा उनमें मुख्य रूप से ताल को केन्द्र में रखते हुए, अध्ययन का कार्य किया गया है, जो कि इस प्रकार है–

3:1:1 मंगलाचरण

मगंलाचरण नाट्याशास्त्र का प्रथम अध्याय है। इस अध्याय के अंतर्गत ब्रह्माजी ने स्वाति मुनि को अपने समस्त शिष्यों के साथ अवनद्ध वाद्यों के वादन के लिए नियुक्त किया गया। स्वाति मुनि का वर्णन विष्णु पुराण से भी प्राप्त होता है, कि वह वाद्य निर्माण तथा वादन में निपूर्ण थे[1] तथा नाट्यशास्त्र के श्लोकों के अंतर्गत स्वाति मुनि का वर्णन प्राप्त होता है। जो कि इस प्रकार है–

स्वातिर्भाण्डे नियुक्तस्तु सह शिष्यैः स्वयम्भुवा ॥
नारदाद्याष्च गन्धर्वा गानयोगे नियोजिताः ॥॥

एवं नाट्यमिदं सम्यग्बुध्वा सर्वैः सुतैः सह ॥
स्वातिनारदसंयुक्तो वेदवेदाङ्गकारणम् ॥॥

उपस्थितोऽहं ब्रह्माणं प्रयोगार्थे कृताञ्जलिः ॥
नाट्यस्य ग्रहणं प्राप्तं ब्रूहि किं करवाण्यहम् ॥॥[2]

अर्थात्– स्वाति मुनि को भाण्ड वाद्यों के सहायक के रूप में सभी शिष्यों सहित नियुक्त किया गया और नारद तथा गंधर्व आदि को नियोजित रूप में गाने के लिए नियुक्त किया गया। नाट्य रचना के वेद–वेदान के लिए संयुक्त रूप से अपनी भूमिका का निर्वाह किया, जो कि ब्रह्माजी के सम्मुख स्वाति मुनि तथा नारदजी ने उपस्थित होकर नाट्य ग्रहण किया और ब्रह्माजी से आगे किए जाने वाले कार्य को पूछा कि आगे का पथ प्रदर्शित करें। इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय में ताल वाद्य के निर्माण की योजना को बताया गया है और स्वाति मुनि और विश्वकर्मा का पुष्कर वाद्यों में योगदान को इस अध्याय के अर्न्तगत वर्णित किया गया है।

3:1:2 प्रेक्षगृह के लक्षण

नाट्यशास्त्र का दूसरा अध्याय प्रेक्षगृह के लक्षण के रूप के कहा गया है। इस प्रस्तुत अध्याय के अंतर्गत सर्वप्रथम ताल तथा ताल वाद्यों का वर्णन नाट्य मंडप की आधारशीला की स्थापना, संबंधी विधान मे श्लोक 39 से 41 के मध्य प्राप्त होता है।

विभज्य भागान्विधिवद्यथावदनुपूर्वशः॥॥
शुभे नक्षत्रयोगे च मण्डपस्य निवेशनम् ॥

---

(1) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्रम / अध्याय–1 / पृष्ठ–14
(2) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्रम / अध्याय–1 / श्लोक–50–52

शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैर्मृदङ्गपणवादिभिः ॥।॥
सर्वातोद्यैः प्रणुदितैः स्थापनं कार्यमेव तु ।
उत्सार्याणि त्वनिष्टानि पाषण्ड्याश्रमिणस्तथा ॥।॥
काषायवसनाश्चौव विकलाश्चैव ये नराः ॥[1]

अर्थात्– प्रस्तुत श्लोकों के अंतर्गत विधि–विधान के साथ आधारशीला भूमि का विभाजन कर शुभ नक्षत्र तथा योग के अंतर्गत शंख, दुंदुभि जैसे वाद्यों के वादन के साथ वृंदवादन किया जाता है। जिसके साथ नाट्य मंडप की स्थापना होती है, तथा मृदंग तथा पणव जैसे वाद्यों का भी वादन किया जाता है। इस मांगलिक कार्यों में अनिष्ट करने वाले त्तवों को स्थापना स्थान से हटा दिया जाता है, जिसमें पाषंड, विकलांग आदि का वर्ण प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तुत अध्याय में वाद्यों का प्रेक्षग्रह में स्थान तथा स्थापना का वर्णन किया गया है तथा उनका एक साथ वादन करते हुए, नाट्य मंडप की स्थापना करते हुए, उनके साथ मृदंग और पणव जैसे अवनद्ध वाद्यों के वादन विधि की चर्चा की गयी है।

3:1:3 रंग देवताओं की पूजा

यह नाट्यशास्त्र का तीसरा अध्याय है। इस अध्याय में मंच पर होने वाले नाट्य की स्थापना से पूर्व सभी देवों का अवाहन किया जाता है, ताकि वह होने वाले नाट्य को सफल होने के लिए अशीष प्रदान करें। उसी के अन्र्तगत वाद्य आदि का भी वर्णन प्राप्त होता है। जो कि इस प्रकार है–

पूजयित्वा तु सर्वाणि दैवतानि यथाक्रमम् ॥
जर्जरस्त्वमिसंपूज्यः स्यात्ततो विघ्नजर्जरः ॥।॥[2]

अर्थात्– प्रस्तुत श्लोक में सभी वाद्यों का वर्णन करते हुए, उन्हें कपड़े आदि से वाद्यों को ढ़ककर उसका सुगंध, धूप आदि से पूजन करने के विधान का वर्णन किया है।

अभिद्योत्य सहातोद्यैर्नृपतिं नर्तकीस्तथा ॥
मन्त्रपूतेन तोयेन पुनरभ्युक्ष्य तान् वदेत् ॥।॥[3]

---

(1)शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्रम / अध्याय–2 / श्लोक–39–41
(2) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्रम / अध्याय–3 / श्लोक–75
(3) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्रम / अध्याय–3 / श्लोक–85

अर्थात्– प्रस्तुत श्लोक में वाद्यों का वर्णन करते हुए, राजा तथा नृतकियों सहित उसे मंत्रों तथा जल से पवित्र करने के विधान को कहा है।

शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषैर्मृदङ्गपणवैस्तथा॥
सर्वातोद्यैः प्रणदितैः रङ्गे युद्धानि कारयेत् ॥।॥[(1)]

अर्थात्– प्रस्तुत श्लोक में दुंदुभि, शंख, मृदंग पणव आदि वाद्यों के नाद घोष के साथ रंग–भूमि का वर्णन किया गया है, जिसमें रंगभूमि पर युद्ध के आयोजन का वर्णन किया गया है। इस प्रकार देवताओं, रंगमंच, आदि के साथ–साथ वाद्यों की भी पूजा का विधान बताया है और उनको धूप, पुष्प आदि के साथ–साथ वाद्यों की नाद घोषणा का वर्णन किया है। प्रस्तुत अध्याय में वाद्यों के अर्न्तगत सभी वाद्यों की पूजा के विधान को बतलाया गया है जिसमें अवनद्ध वाद्य का एक महत्वपूर्ण स्थान है।

3:1:4 अमृतमंथन

अमृतमन्थन नामक अध्याय नाट्यशास्त्र का चतुर्थ अध्याय है। इस अध्याय में देवों तथा दानवों आदि के मध्य हुए, समुद्र–मन्थन नाट्य का अंकन को सभी के समक्ष प्रस्तुत किया गया तथा इस अध्याय में जो भी ताल सम्बन्धित तथ्य प्राप्त हुए, उसे शोधार्थी द्वारा वर्णित करने का प्रयास किया गया है। प्रस्तुत अध्याय में 117 श्लोक से ताल तथा ताल वाद्य का वर्णन मिलना आरंभ होता है।

पृष्ठतः प्रसृतः पादो द्वौ तालावर्द्धमेव च ॥।॥[(2)]
तस्यैव चानुगो हस्तः पुरतस्त्वर्गलं तु त्॥

अर्थात्– प्रस्तुत श्लोक में भरत मुनि के द्वारा ढाई ताल तक (२११ ताल तक) कदम को पीछे ले जाकर हाथों को अपने पैरों से समान सामने की तरफ घुमाकर रखा जाए।

कृत्वा कुतपविन्यासं यथावद् द्विजसत्तमाः ॥।॥
आसारितप्रयोगस्तु त्तः कार्यः प्रयोक्तृभिः॥

तत्र तूपोहनं कृत्वा तन्त्रीगान समन्वितम् ॥।॥
कार्यः प्रवेशो नर्तक्या भाण्डवाधसमन्वितः॥[(3)]

---

(1) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्रम / अध्याय–3 / श्लोक–93
(2) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्रम / अध्याय–4 / श्लोक–117
(3) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्रम / अध्याय–4 / श्लोक–273–274

अर्थात्– कुतुप वाद्यों की चर्चा मिलती है। कुतुप वाद्यों की स्थापना के पश्चात् गीत तथा वीणा के वादन के उपरांत जब नृतकी मंच पर प्रवेश करती है। उस समय अवनद्ध वाद्यों का नाद ताल से परिपूर्ण होते हुए किया जाता है। कुतुप का अर्थ कई स्थानों पर चर्म से निर्मित कुप्पी या पात्र के रूप में भी बताया गया है।

विशुद्धकरणायां तु जात्यां वाद्यं प्रयोजयेत् ॥॥
गत्या वाद्यानुसारिण्या तस्याश्चारीं प्रयोजयेत् ॥
वैशालस्थानकेनेह सर्वरेचकचारिणी ॥॥
पुष्पाञ्जलिधरा भूत्वा प्रविशेद्रङ्गमण्डपम् ॥(1)

अर्थात्– विशुद्ध संगीत तथा जातियों सहित समस्त वाद्यों का वादन प्रस्तुत किया जाता है, और उसी गान के अनुसार ताल का निर्धारण करते हुए वादन होता है। जिसके अनुसार नर्तकी चारी प्रस्तुत करें, इसके विधान को कहा है और नर्तकी पुष्पांजलि लिए हुए, वैशाखस्थान रेचक के अंतर्गत मंच पर प्रवेश प्राप्त करती है।

यत्राभिनेयं गीतं स्यात्तत्र वाद्यं न योजयेत् ॥॥
अङ्गहारप्रयोगे तु भाण्डवाद्यं विधीयते ॥(2)

अर्थात्– प्रस्तुत श्लोक में कहा गया है, कि जब नाट्य गीत के अनुकूल प्रस्तुत किया जाए, उस समय संगीत वाद्यों से संगत प्रस्तुत न की जाए, परंतु उसमें भाण्ड वाद्यों **अर्थात्** मृदंग या भाण्ड वाद्यों का वादन अवश्य रूप से किया जाना चाहिए।

समं रक्तं विभक्तं च स्फुटं शुद्धप्रहारजम् ॥॥
नृत्ताङ्गग्राहि वाद्यौर्वाद्यं योज्यं तु ताण्डवे ॥(3)

अर्थात्– इस श्लोक में सम, रक्त, विरक्त तथा स्फट तथा शुद्ध ताल को प्रस्तुत करते हो। उन्हीं को ताण्डव के अंतर्गत वादन करना चाहिए।

गीतानां छन्दकानाच्च भूयो वक्ष्यामहं विधिम् ॥
यानि वस्तुनिबद्धानि यानि चाङ्गकृतानि तु ॥॥
गीतानि तेषां वक्ष्यामि प्रयोगं नृत्यवाद्ययोः ॥

---

(1) शुक्ल शास्त्री बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्रम / अध्याय–4 / श्लोक–275–276
(2) शुक्ल शास्त्री बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्रम / अध्याय–4 / श्लोक–278
(3) शुक्ल शास्त्री बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्रम / अध्याय–2 / श्लोक–279

तत्रावतरणं कार्ये नर्तक्याः सार्वभाण्डिकम् ॥॥
क्षेपप्रतिक्षेपकृतं भाण्डोपोहनसंस्कृतम् ॥

प्रथमं त्वभिनेयं स्याद् गीतके सर्ववस्तुकम् ॥॥[(1)]
नदेव च पुनर्वस्तु नृत्तेनापि प्रदर्शयेत् ॥

अर्थात्– प्रस्तुत श्लोक में छंदक गीति के लक्षण बताते हुए, भाण्ड अथवा अवनद्ध वाद्यों की भी चर्चा की गई है, जिसमें यह वर्णित है कि भरत मुनि द्वारा कहा गया है कि– गीत कि विषय वस्तु को उचित प्रकार से निबद्ध करते हुए, नृत्त तथा वाद्यों में होने वाले उपयोग का वर्णन किया गया हैं। गीत के आरंभ पर नर्तकी प्रवेश करें और इस समय भाण्ड वाद्य अवनद्ध वाद्यों का वादन हो। जिसमें सभी तंत्री वाद्यों को भी गीत कि विषयवस्तु के अनुसार प्रस्तुत किया जाए।

चतुष्पदा नर्कुटके खञ्जके परिगीतके ॥
विधानं सम्प्रवक्ष्यामि भाण्डवाद्यविधि प्रति ॥॥[(2)]

अर्थात्– भरत मुनि ने भाण्ड वाद्यों के वादन के लक्षण तथा नियमों का वर्णन किया है। जिसमें चतुष्पदा नकृतक खंजक और परिगीतक नाम कि गीत के साथ संगत में प्रयोग होता है।

खञ्ज–नर्कुटसंयुक्ता भवेद्या तु चतुष्पदा ॥
पादान्ते सन्निपाते तु तस्या भाण्डग्रहो मवेत् ॥॥[(3)]

अर्थात्– प्रस्तुत श्लोक में वर्णित किया गया है, स्थापना के अवसर पर उस वाद्य के वादन को किया जाना चाहिए, जो कि चतुष्पदा नकृतक और खंजक मे निबद्ध हो और जिसमें सन्निपात गृह सामूहिक किया गया है। इस प्रकार का वर्णन प्राप्त होता है।

या ध्रुवा छन्दसा युक्ता समपादा समाक्षरा ॥
तस्याः पादावसाने तु प्रदेशिन्या ग्रहो भवेत् ॥॥[(4)]

अर्थात्– गाने के पहले पद के समाप्त होने पर प्रादेशिनी अंगुली के माध्यम से वादन किया जाना चाहिए, जो कि ध्रुवा छन्द के लक्षणों के अनुसार वर्ण मे समानता रखे और पैर के कदमों से सम को प्रदर्शित करता है।

---

(1) शुक्ल शास्त्री बाबूलाल(अनुवाद)/भरत–नाट्यशास्त्रम/अध्याय–4/श्लोक–294–296
(2) शुक्ल शास्त्री बाबूलाल(अनुवाद)/भरत–नाट्यशास्त्रम/अध्याय–4/श्लोक–319
(3) शुक्ल शास्त्री बाबूलाल(अनुवाद)/भरत–नाट्यशास्त्रम/अध्याय–4/श्लोक–320
(4) शुक्ल शास्त्री बाबूलाल(अनुवाद)/भरत–नाट्यशास्त्रम/अध्याय–4/श्लोक–321

कृत्वैकं परिवर्ते तु गानस्याभिनयस्य च॥
पुनः पादनिवृत्तिं तुभाण्डवाद्येन योजयेत् ॥॥(1)

अर्थात्– ध्रुवा गीत के अंतर्गत लक्षणों को कहा गया है, कि जब गीत कि पुनरावृत्ति हो, तब अभिनय के प्रदर्शन के समय गीत के समाप्ती के पूर्व के भाग में भाण्ड वाद्यों के वादन को आरंभ करना चाहिए।

अङ्गवस्तुनिवृत्तौ तु वर्णान्तरनिवृत्तिषु॥
तथोपस्थापने चौव भाण्डवाद्यं प्रयोजयेत् ॥॥(2)

अर्थात्– भाण्ड वाद्य अर्थात् अवनद्ध वाद्यों का वादन तब किया जाना चाहिए। जब गीत की विषय वस्तु को पूर्व कर लिया गया हो।

येऽपि चान्तरमार्गास्स्युः तन्त्रीवाकरणैः कृताः॥
तेषु सूची प्रयोक्तव्या भाण्डेन सह ताण्डवे ॥॥(3)

अर्थात्– ताण्डव के साथ सूची चारी के साथ भाण्ड वाद्यों के वादन को तब किया जाना चाहिए, जब शब्द, करण और तंत्री वाद्य अंतरमार्ग के अंतर्गत प्रदर्शित होते है।

प्रस्तुत अध्याय के अर्न्तगत अमृतमंथन नामक ढ़िम (रूपक या नाट्य) करते हुए ताल का वर्णन यहाँ पैरों के चलन से दर्शाया गया है कि अमृत मथंन के समय पैरों तथा हाथों का चलन ढाई ताल में होना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत अध्याय में संगीत वाद्य को कुतुप की संज्ञा भी दी है। भरत मुनि द्वारा वर्णन किया गया है कि जिस समय कुतुप वाद्यों की स्थापना के पश्चात् जब नृतकी गीत तथा वीणा वादन के साथ तथा अवनद्ध वाद्यों के बाद ताल के साथ मंच पर प्रवेश करें उस समय नृतकी पुष्पांजलि लिए वैशख स्थान रुचक के साथ मंच पर प्रवेश करती है। उस समय विशुद्ध संगीत तथा जातियों सहित सभी वाद्यों का वादन गीत के अनुकूल करते हुए वादन करना चाहिए तथा ताण्डव नृत का वर्ण करते हुए वर्णन किया गया है कि ताण्डव नृत के साथ साफ स्पष्ट तथा शुद्ध ताल प्रस्तुत करने वाला ताल वाद्य को नियुक्त करना चाहिए इसी अध्याय के अर्न्तगत श्लोक 278 में भरत मुनि द्वारा

---

(1) शुक्ल शास्त्री बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्रम / अध्याय–4 / श्लोक–322
(2) शुक्ल शास्त्री बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्रम / अध्याय–4 / श्लोक–323
(3) शुक्ल शास्त्री बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्रम / अध्याय–4 / श्लोक–324

वर्णन किया गया है, जब अभिनय गीत के अनुसार प्रस्तुत किया जाए, उस समय संगीत प्रस्तुत न किया जाए, परन्तु अवनद्ध वाद्यों का वादन अवश्य रूप से करना चाहिए।

3:1:5 पूर्वरंग विधान

नाट्यशास्त्र का पंचम अध्याय पूर्वरंग विधान है। प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत पूवरंग शब्द की उत्पत्ति '**पूर्वो रंग इति पूर्वरंग**' इस प्रकार करना चाहिए या फिर '**राजदन्तादित्वात परनिपात**'। इस प्रकार से पूर्वरंग वह है जिसमें नाट्य प्रयोग से पहले उसके सफलतापूर्वक व्यवस्थित होने के लिए जाने वाले सभी कार्य पूर्वरंग में समाहित है। जिस तरह से तन्तु, तुरी, वंमा आदि के बिना पट की निर्मिति नहीं हो सकती उसी प्रकार से प्रत्याहारादि अंगों के पूर्ण उपयोग से गायन आदि सभी विकल्प के एक जुट करने पर ही नाट्य प्रयोग सफलतापूर्वक सम्पूर्ण हो सकता है। इस तरह से पूर्व रंग का अर्थ होता है कि नाट्य अवतरित होने से पहले किए जाने वाले सभी महत्वपूर्ण कार्य। रंगमंच पर नाट्य विधान के आरम्भ होने के पूर्व जो नियाजन हो, उसे पूर्वरंग का विधान कहा गया है तथा इसके अन्तर्गत ताल तथा ताल वाद्य संबन्धित चर्चा प्राप्त होती है जो कि इस है–

अस्याङ्गानि तु कार्याणि यथावदनुपूर्वशः॥
तन्त्रीभाण्डसमायोगैः पाठ्ययोगकृतैस्तथा॥॥

प्रत्याहारोऽवतरणं तथा ह्यारम्भ एव च॥
आश्रावणा वक्त्रपाणिस्तथा च परिघट्टना॥॥

सङ्घोटना त्तः कार्या मार्गासारितमेव च॥
ज्येष्ठमध्यकनिष्ठानि तथैवासारितानि च॥॥

एतानि तु बर्हिर्गीतान्यन्तर्यवनिकागतैः॥
प्रयोक्तृभिःप्रयोज्यानि तन्त्रीभाण्डकृतानि च ॥॥[(1)]

अर्थात्– वीणा, भाण्ड वाद्य तथा संवाद तीनों समान प्रयोग किया जाना चाहिए और इसके अंगों का वर्णन करते हुए कहा है, कि बहिर्गीत यवनिका में पुरुषों का साथ वीणा और भाण्ड वाद्य को संगत के साथ प्रदर्शित किया जाना चाहिए।

तथा पाणिविभागार्थ भवेत् संघोटनाविधिः॥
तन्त्रीभाण्डसमायोगान्मार्गा सारितमिष्यते॥॥[(2)]

(1)शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्रम / अध्याय–5 / श्लोक–8–11
(2) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्रम / अध्याय–5 / श्लोक–20

अर्थात्– बीसवें श्लोक के अंतर्गत हस्त प्रहार से वाद्यों के वादन का वर्णन किया गया है। इस श्लोक के अग्र भाग में अवनद्ध वाद्यों का वर्णन मिलता है। संघोटन का वर्णन करते हुए कहा गया है, कि किसी भी ताल वाद्य या भाण्ड वाद्य आदि पर हाथ से अघात या थाप देकर उस ध्वनि को सुन्ने की क्रिया संघोटन कही जाती है और वीणा आदि स्वर वाद्य तथा भाण्ड आदि ताल वाद्यों के समिश्रण से जिस ध्वनि को उपयोग किया जाता है, उसे मार्गासारित कहा जाता है।

कलापातविभागार्थ भवेदासारितक्रिया॥
कीर्तनाद्देवतानां च ज्ञेयो गीतविधिस्तथा ॥॥(1)

अर्थात्– कला पात या मात्रा के विषय मे जानकारी प्राप्त होती है, जिसका मुख्य रूप से प्रयोग ताल के संदर्भ मे किया है और कला खंड से होने वाला वादन आसारित कहा जाता है। साथ ही इसकी गति की विधी को कहा, जो कि देवों की प्रशंसा में किया गया गान है।

नारदाद्यैस्तु गन्धर्वैः सभायां देवदानवाः॥
निर्गीतं श्राविताः सम्यग्लयतालसमन्वितम्॥॥(2)

अर्थात्– नारद आदि मुनि तथा गंधर्वों के द्वारा देवों और दानवों को लय तथा ताल से निबद्ध संगीत को सभा में प्रस्तुत किया गया। इस प्रकार से सभा में संगीत को प्रस्तुत करने का वर्णन प्राप्त होता है। जिसमें ताल तथा लय से युक्त गीत व संगीत को वर्णित किया गया है।

आदौ द्वे च चतुर्थश्चाप्यष्टमैकादशे तथा ॥
गुर्वक्षराणि जानीयात्पादे ह्योकादशाक्षरे॥॥

चतुष्पदा भवेत्सा तु चतुरस्रा' तथैव च॥
चतुर्भिस्सन्निपातैश्च त्रिलया त्रियतिस्तथा॥॥

परिवर्ताश्च चत्वारः पाणयस्त्रय एव च॥
जात्या चौव हि विश्लोकास्तांश्च तालेन योजयेत्॥॥(3)

अर्थात्– प्रस्तुत श्लोक के अर्न्तगत ताल शास्त्रीय विवेचन प्राप्त होता है, जिसमें कहा गया है कि ध्रुवा पाद के अंर्तगत ग्यारह अक्षर प्राप्त होते है, जिसमें दो, चार और ग्यारह गुरू

(1) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद)/भरत–नाट्यशास्त्रम/अध्याय–5/श्लोक–21
(2) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद)/भरत–नाट्यशास्त्रम/अध्याय–5/श्लोक–32
(3) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद)/भरत–नाट्यशास्त्रम/अध्याय–5/श्लोक–60–62

अक्षर कहे है। इसमें पादों की संख्या चार वर्णित की गयी है। जिसकी ताल चतुरस्त्र कही गयी है। चार प्रकार में सन्निपात बताते हुए, तीनों प्रकार की लय का वर्णन प्राप्त होता है और तीनों प्रकार की लय का वर्णन दिया है। इसमें ताल को दोहराने के वर्णन के साथ तीन पाणि भी बतायी गयी है। इसका छन्द विश्लोक कहा है और उपयोग में लायी जाने वाली ताल चतुरस्त्र कही है।

शम्या तु द्विकला कार्या तालो द्विकल एव च॥
पुनश्चैककला शम्या सन्निपातः कलात्रयम्॥।॥(1)

अर्थात्– ताल की जो व्यवस्था बतायी गयी है, वह शम्या, दो कला की ताल, एक कला की शम्या और आखिर में तीन कला के सन्निपात का वर्णन किया है।

एवमष्टकलः कार्यः सन्निपातो विचक्षणैः॥
चत्वारः सन्निपाताश्च परिवर्तस्य उच्यते ॥।॥(2)

अर्थात्– एक परिवर्तन का निर्माण चार सन्निपातों के द्वारा होता है। जिसमें आठ कलाओं को रखा जाता है।

पूर्व स्थितलयः कार्यः परिवर्तो विचक्षणैः॥
तृतीये सन्निपाते तु तस्य भाण्डग्रहो भवेत॥।॥(3)

अर्थात्– भाण्ड़ वाद्यों का वादन तृतीय सन्निपात से आरम्भ होता है। जिसकी गति परिवर्तन विलम्बित या स्थित लय में रखता है।

त्रितालान्तरविष्कम्ममुत्क्षिपेच्चरणं शनैः॥
पार्श्वोत्थानोत्थितं चैव तन्मध्ये पातयेत्पुनः॥।॥(4)

अर्थात्– प्रस्तुत श्लोक में पैरों को तीन ताल में मध्यम गति में उठाने की धरती पर पटकने की बात कही है। इस प्रकार ताल के अन्तर में पैर की स्थिति का वर्णन किया है।

चतुरश्रं लये मध्ये सन्निपातैरथाष्टभिः॥
यस्यां लघूनि सर्वाणि केवलं नैधनं गुरु॥।॥

---

(1) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्रम / अध्याय–5 / श्लोक–63
(2) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्रम / अध्याय–5 / श्लोक–64
(3) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्रम / अध्याय–5 / श्लोक–65
(4) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्रम / अध्याय–5 / श्लोक–71

भवेदतिजगत्यान्तु सा ध्रुवा परिवर्तनी॥
वार्तिकेन तु मार्गेण वाद्देनानुगतेन च॥॥

ललितैः पादविन्यासैर्वन्द्यादेवान् यथादिशम्॥
द्विकलं पादपतनं पादचार्या गतं भवेत्॥॥

एकैकस्यां दिशि तथा सन्निपातद्वयं भवेत्॥
वामपादेन वेधस्तु कर्तव्यो नृत्तयोक्तृभिः॥
द्वितालान्तरविष्कम्भों विक्षेपो दक्षिणस्य च॥॥(1)

अर्थात्– परिर्वतनी ध्रुवा को वर्णित करते हुए कहा है, कि यह चतुरस्त्र ताल में बद्ध होती है। इसकी गति मध्य तथा इसमें आठ सन्निपात होते है। छंद के अर्न्तगत इसमें अंतिम वर्ण गुरू है तथा पद में अन्य सभी लघु होते है। इस ध्रुवा के गायन के समय अभिनेता वर्तिक मार्ग द्वारा ही वाद्यों से उत्पन्न होने वाली ध्वनि तथा ताल में ही समस्त दिशा में नमन करता है। इसमें अभिनेता के पैरों की स्थिति दो कला की रखी जाती है और गति काल दो सन्निपात में रखते है। त्पश्चात् नृत्त निदेर्शक दोनों पैरों स्थिति का वर्णित करते हुए, एक पैर से सूची तथा दूसरे से विक्षेप कर दो ताल के अन्तर को रखता है। इस प्रकार ताल आदि को व्याख्यित किया है।

तस्य भाण्डसमः कार्यस्तज्ज्ञैः गति परिक्रमः॥
न तत्र गानं कर्त्तव्यं तत्र स्तोभ–क्रिया भवेत्॥॥(2)

अर्थात्– पूजन के समय अवनद्ध वाद्यों की गति को ताल के अनुसार ही रखना चाहिए। इसमें पूजन के समय गान नहीं होता, मात्र वाद्यों का वादन किया जाता है। इस गान में जो गान होता है, वह अर्थहीन अक्षरों से युक्त होता है। इस प्रकार अवनद्ध वाद्य का वर्णन प्राप्त होता है।

चतुर्थकारः पूजान्तु स कृत्वान्तर्हितो भवेत्॥
ततो गेयावकृष्टा तु चतुरस्त्र स्थिता ध्रुवा॥॥(3)

अर्थात्– पूजन के हो जाने के बाद पात्र जिसे चतुर्थ पात्र कहा गया है। वह मंच से विदा लेता है, जिसमें अवकृष्टा ध्रुवा गान किया जाता है। जिसकी गति विलम्बित रखी जाती है और इसकी निर्धारित ताल चतुरस्त्र ताल होती है।

---

(1) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद)/भरत–नाट्यशास्त्रम/अध्याय–5/श्लोक–88–91
(2) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद)/भरत–नाट्यशास्त्रम/अध्याय–5/श्लोक–101
(3) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद)/भरत–नाट्यशास्त्रम/अध्याय–5/श्लोक–102

गुरुप्राया तु सा कार्या तथा चौवावपाणिका॥
स्थायिवर्णाश्रयोपेता कलाष्टक–विनिर्मिता॥॥[(1)]

अर्थात्– अवकृष्टा ध्रुवा गान में प्रयुक्त होने वाले समस्त वर्ण गुरू रखे जाते है। इसका अधार स्थायी वर्ण कहा गया है। यह अवपाणिक ताल में होता है और इसमें आठ कलाएं होती है।

अड्डिता चात्र कर्तव्या ध्रुवा मध्यलयान्विता॥
चतुर्भिः सन्निपातैश्च चतुरश्रा प्रमाणतः॥॥ [(2)]

अर्थात्– अड्डिता ध्रुवा को वर्णित करते हुए, इसकी गति मध्य लय बतायी है। इसकी ताल चतुरस्त्र ताल है, जिसमें चार सन्निपात रखते हुए, गान किया जाता है। इस प्रकार अड्डिता ध्रुवा में ताल का वर्णन प्राप्त होता है।

चतुश्रा ध्रुवा तत्र द्रुतलयान्विता॥॥
चतुर्भिस्सन्निपातैश्च कला ह्यष्टौ प्रमाणतः॥

आद्यं चतुर्थमन्त्यं च सप्तमं दशमं गुरु ॥॥
लघु शेष ध्रुवा योगे त्रैष्टुभे चरणे तथा॥[(3)]

अर्थात्– महाचारी का वर्णन करते हुए कहा है, कि इसमें द्रुतलय में चतुरस्त्र ताल प्रयुक्त की जाती है तथा इसके अर्न्तगत चार सन्निपात तथा आठ कलाएं है। यह ध्रुवा ग्यारह का होता है। उसमें पहला, चौथ, सातवां, दशवां और अन्त में जिन वर्णों का प्रयोग हाता है, वह सभी गुरू प्रयोग किए जाते है, शेष अन्य वर्ण लघु रखे जाते है।

भाण्डोन्मुखेन कर्तव्यं पादविक्षेपणं त्तः॥
सूची कृत्वा पुनः कुर्याद्विक्षेपपरिवर्तनम्॥॥[(4)]

अर्थात्– चतुरस्त्र ध्रुवा का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा है, कि पात्र भाण्ड वाद्यों की ओर जाता है और वह सूची चारी को प्रस्तुत का फिर से विक्षेप में बदल जाता है।

अतिक्रान्तैः सललितैः पादैर्दुतलयान्वितैः॥
त्रितालान्तरमुत्क्षेपैर्गच्छेत्पञ्चपदीं त्तः॥॥

तत्रापि वामवेधस्तु विक्षेपो दक्षिणस्य च॥

---

(1) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद)/भरत–नाट्यशास्त्रम/अध्याय–5/श्लोक–103
(2) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद)/भरत–नाट्यशास्त्रम/अध्याय–5/श्लोक–118
(3) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद)/भरत–नाट्यशास्त्रम/अध्याय–5/श्लोक–126–127
(4) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद)/भरत–नाट्यशास्त्रम/अध्याय–5/श्लोक–130

तैरेव च पदैः कार्य प्राङ्मुखेनापसर्पणम् ॥॥

पुनः पदानि त्रीण्येव गच्छेत्प्राङनुख एव तु ॥
ततश्च वामवेधः स्याद्विक्षेपो दक्षिणस्य च ॥॥(1)

अर्थात्– अतिक्रान्ता चारी में गति चंचल रखते हुए, पैरों को तीनताल के अन्तर में द्रुत या तीव्र गति में पांच डग चलते है। यह गति के साथ पहले बांयी ओर फिर दाहिंनी ओर प्रदर्शन करती है। सामने मुहँ रखते हुए पीछे प्रस्थान करती है, फिर तान ड़ग आगे और बांए ओर से सुची के अर्न्तगत दाहिने पैर के विक्षेप करती है।

शम्या तु द्विकला कार्या तालो होककलस्तथा ॥
पुनश्चैककला शम्या सन्निपातः कलाद्वयम् ॥॥(2)

अर्थात्– शम्या को एक कला का बताया है, ताल को एक कला का बताया है तथा फिर से शम्या को एक कला और सन्निपात को दो कला के मापन में बताया गया है।

अनेन हि प्रमाणेन कलातालयान्वितः ॥
कर्तव्यः पूर्वरङ्गस्तु त्र्यश्रोऽप्युत्थापनादिकः ॥॥(3)

अर्थात्– त्र्यस्त्र पूर्वरंग में कला ताल और लय को उसी प्रकार से उत्थापना आदि अंग को उपयोग करना चाहिए।

स्थापकस्य प्रवेशे तु कर्तव्यार्थानुगा ध्रुवा ॥॥
त्र्यस्त्र वा चतुरस्त्रा वा तज्ज्ञैमध्यलयान्विता ॥(4)

अर्थात्– अर्थानुगामिनी ध्रुवा का गान तब करने चाहिए जब मंच पर संथापक का अगमन हो और इसका गान त्र्यस्त्र या फिर चतुरस्त्र ताल में करना चाहिए तथा इसके गति मध्य लय में रखनी चाहिए।

अवकुष्टामिदानी तु कथ्यमानां निबोधत ॥
अस्यास्तूनोहनं कार्य कलाभिः पच्चभिर्युतम् ॥॥(5)

---

(1) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद)/भरत–नाट्यशास्त्रम/अध्याय–5/श्लोक–131–133
(2) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद)/भरत–नाट्यशास्त्रम/अध्याय–5/श्लोक–143
(3) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद)/भरत–नाट्यशास्त्रम/अध्याय–5/श्लोक–144
(4) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद)/भरत–नाट्यशास्त्रम/अध्याय–5/श्लोक–170
(5) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद)/भरत–नाट्यशास्त्रम/अध्याय–5/श्लोक–206

अर्थात्– अवकृष्टा ध्रुवा की उपोहन क्रिया को बताते हुए, इस पांच कलाओं का बताया गया है। इसके अतिरिक्त कई श्लोकों में ताल के साथ चारियों और ध्रुवाओं की उपोहन क्रिया का पता चलता है। उपोहन अर्थात् प्रयोग की विधि का वर्णन किया गया है। जिसमें कौन सी चारी में कितने सन्निपात, ताल और शम्या का प्रयोग होता है और वह किस ताल में प्रयोग होगी व उनकी गति का निर्धारण किस प्रकार का होगा। इन सभी का वर्णन प्राप्त है।

3:1:6 चारीविधान

प्रस्तुत अध्याय चारी विधान आधारित है, जो नाट्यशास्त्र का ग्याहरवाँ अध्याय है। इस अध्याय के अन्तर्गत चारी सम्बन्धित सभी लक्षणों का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। यह अध्याय पाद का वर्णन प्रस्तुत करते हुए, ताल तथा ताल शास्त्र के विषय में भी अवगत कराता है। जो कि इस प्रकार है–

विच्यवात् समपादाया विच्यवां सम्प्रयोजयेत्॥
निकुट्टयंस्तलाग्रेण पादस्य धरणीतलम्॥॥[(1)]

अर्थात्–प्रस्तुत श्लोक के अंर्तगत ताल को दर्शाने का वर्णन किया गया है, और कहा है, कि समपादा चारी से भिन्न होकर धरती पर पैरों के पंजों से थाप देना, जो ताल प्रदर्शित करें वह 'विच्यवा' कहा जाता है।

पञ्चतालान्तरं पादं प्रसार्य स्यन्दितां न्यसेत्॥ :
द्वितीयेन तु पादेन तथापस्यन्दितामपि॥॥[(2)]

अर्थात्– पांच ताल के अन्तर से पैरों को रखनें को स्यन्दिता कहा है। प्रस्तुत श्लोक में ताल को दर्शानें के विषय में चर्चा करते हुए उसके विधान को बतलाया गया है।

द्वौ तालावर्धतालश्च पादयोरन्तरं भवेत्॥
तयोस्समुत्थितस्त्वेकस्यश्रः पक्षस्थितोऽपरः॥॥

किश्चिदश्चितजंघञ्च सौष्ठवाङ्गपुरस्सरम्॥
वैष्णवं स्थानमेतद्धि विष्णुरंत्राधिदैवतम्॥॥[(3)]

अर्थात्– प्रस्तुत श्लोक के अंर्तगत पात्र के खड़ें होने की मुद्रा किस ताल में है ,उसका वर्णन किया गया है। विष्णुजी जिस मुद्रा में खड़ें होते हैं, उसे वैष्णवस्थान कहा है। जिसमें पैरों के

---

(1) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद)/भरत–नाट्यशास्त्रम/अध्याय–11/श्लोक–19
(2) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद)/भरत–नाट्यशास्त्रम/अध्याय–11/श्लोक–26
(3) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद)/भरत–नाट्यशास्त्रम/अध्याय–11/श्लोक–52–53

मध्य अढ़ाई ताल का अंतर होता है। जिसमें एक पैर को ही आधार मान कर खड़ें होते है और दूसरा तिरछा रखा जाता है।

समपादे समो पादौ तालमात्रान्तरस्थितौ ॥॥
स्वभावसौष्ठवोपेतौ ब्रह्मा चात्राधिदैवतम् ॥(1)

अर्थात्– प्रस्तुत श्लोक के अंर्तगत ब्रह्माजी की मुद्रा का वर्णन प्राप्त होता है। इसके अंर्तगत एक ताल का अंतर देखने को मिलता है। इसे समपाद स्थान कहा है।

तालास्त्रयोऽर्धतालश्च पादयोरन्तरं भवेत् ॥॥
तालास्त्रीनर्धतालांश्च निषण्णोरं प्रकल्पयेत् ॥

त्र्यश्री पक्षस्थितौ चौव तत्र पादौ प्रयोजयेत् ॥॥
वैशाखस्थानमेतद्धि स्कन्दश्चात्राधिदैवतम् ॥(2)

अर्थात्– प्रस्तुत श्लोक में वैशाखस्थान को वर्णित किया गया है जिसे कार्तिकेय की मुद्रा बताया है और इसमें पैरों के मध्य साढ़े तीन ताल का अन्तर होता है। और बाजुओं को एक दूसरे के समान रखा है।

ऐन्द्रे तु मण्डले पादौ चतुस्तालान्तरस्थितौ ॥॥
त्र्यश्रौ पक्षस्थितौ चौव कटिजानू समौ तथा ॥

धनुर्वज्राणि शस्त्राणि मण्डलेन प्रयोजयेत् ॥॥
वाहनं कुञ्जराणान्तु स्थूलपक्षिनिरूपणम् ॥(3)

अर्थात्– चार ताल के अन्तर के इस मुद्रा को इन्द्र की मद्रा कहा है जो मण्डलस्थान है इसमें पैरों को तिरछा या टेड़ी अवस्था में रखा जाता है। इस मुद्रा में शस्त्र की योजना की जाती है।

आलीढ़संहितं शस्त्र प्रत्यालीढेन मोक्षयेत् ॥॥
नानाशस्त्रविमोक्षो हि कार्योऽनेन प्रयोक्तभिः ॥(4)

अर्थात्– रूद्र को समर्पित इस मुद्रा को प्रत्यालीढ़ स्थान कहा है। इसमें दोनों पैरों के मध्य पांच ताल का अंतर रखते हुए, उपर की और फैलाया जाता है।

---

(1) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्रम / अध्याय–11 / श्लोक–58
(2) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्रम / अध्याय–11 / श्लोक–62
(3) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्रम / अध्याय–11 / श्लोक–65–66
(4) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्रम / अध्याय–11 / श्लोक–71

अङ्गसौष्ठवसम्पन्नैरङ्गहारैर्विभूषितम् ॥॥
व्यायामं कारयेत् सम्यग्लयतालसमन्वितम् ॥[1]

अर्थात्– सौष्ठव और अंगहारों से परिपूर्ण व्यायाम करने की चर्चा प्रस्तुत की गयी है। जिसमें ताल तथा लय निबद्ध होना एक आवश्यक योजना के अंर्तगत माना गया है।

इस प्रकार की ताल सम्बन्धित चर्चा प्राप्त होती है। जो ताल को प्रदर्शित करती है। प्रस्तुत अध्याय के अर्न्तगत खडें रहनें की मुद्रा को ताल रूप में वर्णित किया गया है और ताल का अर्थ बलिस्थ एक प्रकार की माप कही है।

3:1:7 गतिप्रचार

नाट्यशास्त्र का तेहरवाँ अध्याय गति प्रचार के रूप में जाना जाता है। प्रस्तुत अध्याय गति के द्वारा प्रयुक्त होने वाले ताल शास्त्र की चर्चा करता है, जो कि इस प्रकार से प्राप्त होती है–

तत्रोपवहनं कृत्वा भाण्डवाद्यपुरस्कृतम् ॥
यथामार्गरसोपेतं प्रकृतीनां प्रवेषने ॥॥

ध्रुवायां सम्प्रवृत्तायां पेट चैवापकर्षिते ॥
कार्यः प्रवेशः पात्राणां नानार्थरससभवः ॥॥[2]

अर्थात्–विभिन्न प्रकार के भाण्ड वाद्य अर्थात् अवनद्ध आदि वाद्यों के साथ मार्ग, कला तथा रस के अनुसार उपोहन क्रिया को पूर्ण किया जा चुका हो, साथ ही ध्रुवा गान प्रारम्भ किया जा चुका हो, तब पात्रों का प्रवेश मंच पर कराया जाता है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय को ताला तथा मार्ग की चर्चा के साथ आरम्भ किया है।

पादयोरन्तरं कार्ये द्वौ तालावर्धमेव च ॥
पादोत्क्षेपस्तु कर्तव्यः स्वप्रमाणविनिर्मितः ॥॥

चतुस्तालो द्वितालश्चाप्येकतालस्तर्थव च ॥
चतुस्तालस्तु देवानां पार्थि न व च ॥॥

द्वितालश्चैव मध्यानां तालः स्त्रीनीचलिङ्गिनाम् ॥
चतुष्कलोऽथ द्विकलस्तथा ह्येककलः पुनः ॥॥

---

(1)शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्रम / अध्याय–11 / श्लोक–88
(2)शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्रम / अध्याय–13 / श्लोक–2–3

चतुष्कलो ह्युत्तमानां मध्यानां द्विकलो भवेत् ॥
तथा चैककलः पातो नीचानां सम्प्रकीर्तितः ॥॥

स्थितं मध्यं द्रुतश्चैव समवेक्ष्य लयं बुधः ॥
यथाप्रकृति नाट्यज्ञौ गतिमेवं प्रयोजयेत् ॥॥

स्थैर्योपपन्ना गतिरुत्तमानां मध्या गतिर्मध्यमसम्मतानाम् ॥
द्रुता गतिश्च प्रकृताधमानां लयत्रयं सत्ववशेन योज्यम् ॥॥

एष एवं तु विज्ञेयः कलाताललये विधिः ॥
पुनर्गतिप्रचारस्य प्रयोगं श्रृणुतानघाः ॥॥(1)

अर्थात्– पात्रों द्वारा ढाई ताल के अन्तर से कदमों को उठाकर रखने, उत्तम, मध्यम तथा अधम पात्रों के पृथ्वी पर पैर रखने की ताल चार, दो तथा एक ताल का वर्णन, पात्रों की निश्चित लय अर्थात् द्रुत, मध्यम तथा विलम्बित आदि का वर्णन प्रस्तुत श्लोकों के अंर्तगत प्राप्त होता है व ताल, लय से सम्बन्धित समस्त लक्षणों का वर्णन भरत मुनि के द्वारा किया गया है।

यः समैः सहितो गच्छेत्तत्र कार्यो लयाश्रयः ॥
चतुष्कलोऽथ द्विकलस्तथैवैककलः पुनः ॥॥

अथ मध्यमनीचौस्तु गच्छेद्यः परिवारितः ॥
चतुष्कलमाथार्द्धश्च तथा चैककलं पुनः ॥॥

देव–दानव–यक्षाणां नृपपन्नगरक्षसाम् ॥
चतुस्तालप्रमाणेन कर्त्तव्याथ गतिर्बुधैः ॥॥(2)

अर्थात्– प्रस्तुत श्लोकों के अंर्तगत पात्र की लय उसकी प्रकृति के अनुसार वर्णित की गयी है। पात्र की आवश्यकता के अनुसार लय का निर्धारण बताया है। गति का वर्णन करते हुए चार, दो व एक कला का वण्रन किया गया है। वह पात्र देव, दानव, नाग राजा आदि उत्तम पात्र का कदमों को रखने व गति या लय करने की ताल चार ताल बतायी है। इस प्रकार ताल शास्त्र संबन्धित चर्चा की गयी है।

चतुरर्द्धकलं चा स्यात्तदर्धकलमेव च ॥
अवस्थान्तरमासाद्य कुर्याद्गतिविचेष्टितम् ॥॥

---

(1)शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्रम / अध्याय–13 / श्लोक–8–14
(2)शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्रम / अध्याय–13 / श्लोक–21–23

ज्येष्ठे चतुष्कलं यत्र मध्यमे द्विकलं भवेत्॥
द्विकला चोत्तमे यत्र मध्ये त्वेककला भवेत्॥॥

कलिकं मध्यमे यत्र नीचेम्वर्द्धकलं भवेत्॥
एवमंर्द्धार्द्धहीन्नतु कलानां सम्प्रयोजयेत्॥॥
त्वरात्तै च क्षुधार्त्ते च तपः श्रान्ते भयान्विते॥[1]

अर्थात्– पात्रों की गति को पात्र तथा परिस्थिति के अनुसार रखा जाता है और उसमें चार कला फिर दो कला व अन्त में एक होने का वर्णन किया है तथा उत्तम की चार कला, मध्यम की दो कला तथा अधम पात्र को एक कला में रखने की बात कही है। इस प्रकार विभिन्न अवस्थाओं में गति का वर्णन प्रस्तुत किया है।

विस्मये चावहित्थे च तथौत्सुक्यसमन्विते॥॥
श्रृङ्गारे चैव शोके च स्वच्छन्दगमने तथा॥

गतिः स्थितलया कार्याधिकलान्तरपात्तिा॥॥
पुनश्चिन्तान्विते चैव गतिः कार्या चतुष्कला॥

अस्वस्थकामिते चैव भये वित्रासिते तथा॥॥
आवेगे चैव हर्षे च कार्ये यच्च त्वरान्वितम्॥

अनिष्टश्रवणे चैव क्षेपे चाद्भुतदर्शने॥॥
अपि चात्ययिके कार्य दुखिते शत्रुमार्गणे॥

अपराद्धानुसरणे श्वापदानुगतौ तथा॥॥
एतेष्वेवं गतिं प्राज्ञो द्विकलां सम्प्रयोजयेत्॥[2]

अर्थात्– गति के लय विधान की चर्चा करते हुए, पात्र में परिस्थिति के अनुसार उत्पन्न होने वाले रस तथा भाव आदि के आधार पर लय के निर्धारण की वयाख्या प्रस्तुत की गई है। साथ ही पात्रों द्वारा होने वाले अभिनय की गतिविधि का भी वर्णन किया गया है। सभी दशाओं का वर्णन मिलता है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय के अर्न्तगत के अनुसार पात्रों द्वारा प्रयुक्त होने वाली ताल, लय, मार्ग आदि का वर्णन प्राप्त होता है। प्रस्तुत अध्याय में ताल शब्द का प्रयोग कई स्थान पर देखने को मिलता है जिसका अर्थ इस अध्याय में गति तथा माप को दर्शाने हेतु किया गया है।

---

(1)शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद)/भरत–नाट्यशास्त्रम/अध्याय–13/श्लोक–31–33
(2)शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद)/भरत–नाट्यशास्त्रम/अध्याय–13/श्लोक–35–39

3:1:8 कक्ष्या, परिधि तथा लोकधर्मी निरुपण

यह नाट्यशास्त्र का चौदवाँ अध्याय है। प्रस्तुत अध्याय के अंर्तगत रंगमंच की कक्ष्या परिधि में वाद्य के स्थान व दिशा सम्बन्ध में ही तथ्य प्राप्त हुए है, जो कि इस प्रकार है–

ये नेयथ्यगृहद्वारे मया पूर्व प्रकीर्तिते॥
तयोर्भाण्डस्य विन्यासो मध्ये कार्यः प्रयोक्तभिः॥॥(1)

अर्थात्– वाद्य वादकों को नेपथ्य गृह के मध्य में स्थान दिया गया है। यह स्थान दोनों द्वारों के बीच में है इस स्थान पर मुख्य तौर पर भाण्ड वादकों **अर्थात्** अवन्द्ध वाद्य के वादकों को बैठाया जाता था।

यतो मुखं भवेद्भाण्डद्वारं नेपथ्यकस्य च॥
स मन्तव्या तु दिक्पूर्वा नाट्ययोगेन नित्यशः॥॥(2)

अर्थात्– इस श्लोक में वर्णित है कि जिस दिशा में भाण्ड वादकों अर्थात् अवन्द्ध वादक अपना मुख रखते है या जिस दिशा में नेपथ्य गृह का मुख हो उस दिशा को पूर्व दिशा स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार वाद्यों के नेपथ्य गृह या रंगमंच पर स्थान, दिशा आदि का वर्णन प्रस्तुत अध्याय में प्राप्त होता है।

3:1:9 आतोद्यविधान

नाट्यशास्त्र का यह अठाइसवाँ अध्याय है। भारतीय संगीत में वाद्यों का इतिहास अपनी एक विशेष स्थान रखता है। प्राचीन काल से ही संगीत मन के भावों को प्रकट करने का एक आधार रहा है। विभिन्न प्रकार के भावों को प्रकट करने वाली अलग–अलग ध्वनि ही संगीत के उद्भव का आधार रही है। जिससे यह ज्ञात होता है, कि इन्हीं सांगीतिक ध्वनियों के आधार पर संगीत के वाद्य यन्त्रों की उत्पत्ति हुयी संगीत में ध्वनि तथा गति को प्रस्तुत करने वाले यंत्र या साधन वाद्य समझे जाते है।

अनादि काल से ही मानव वाद्यों का प्रयोग विभिन्न प्रकार से करता आया है। जिस प्रकार से संस्कृति का विकास होता गया, उसी प्रकार वाद्य का भी विकास होता गया। नाट्यशास्त्र के 28वें अध्याय को वाद्य अध्याय कहा गया है। इसमें वाद्यों को चार भागों में वर्गीकृत किया

---

(1)शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद)/भरत–नाट्यशास्त्रम/अध्याय–14/श्लोक–2
(2)शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद)/भरत–नाट्यशास्त्रम/अध्याय–14/श्लोक–11

गया है। नाट्यशास्त्र में वाद्यों के लिए अद्योत शब्द का उपयोग किया गया है। इसलिए इस अध्याय को अतोद्यविधान अध्याय भी कहा जाता है। आतोद्य शब्द का अर्थ है, चार प्रकार के वाद्यों का संग्रह या उनका एक साथ वादन क्रिया करना। जिसे आधुनिक युग में वृन्दवादन (Orchestra) कहा जाता है तथा नाट्य के उपयोग में अलग–अलग वाद्य उपकरणों की व्यवस्था जिस तरह से की जाती है, उस क्रिया को अतोद्य कहा गया है। नाट्यशास्त्र में वाद्य यन्त्रों को चार भागों में वर्गीकृत किया गया है।

त्तातोद्यविधिस्त्वेष मया प्रोक्तः समाातः॥
अवनद्धविभागेन लक्षणं कर्म चैव हि॥1॥

आतोद्यानां प्रवक्ष्यामि विधिं वादनमेव च॥
मृदंगपणवानाञ्च दर्दुरस्य तथैव हि॥1॥[1]

अर्थात्– इस प्रकार भरत मुनि द्वारा त्त्, सुषिर, घन तथा अवनद्ध इन चार वर्गों में विभक्त किया है। वीणा आदि तंत्री वाद्यों का वर्णन त्त् वाद्यों में किया है। सुषिर वाद्यों में फूंक कर बजाए जाने वाले वाद्य, वंश अर्थात् बाँसुरी आदि वाद्यों को रखा है। घन वाद्य धातुओं तथा काँसी इत्यादि से बने वाद्य ताल दिखाने वाले वाद्य है तथा जो किसी वस्तु के द्वारा पीटकर या आघात करके बजाए जाने वाले वाद्य अवनद्ध कहलाए जैसे (मृदंग) पुष्कर आदि। इस तरह से बताए गए वाद्यों में सुषिर और त्त् वाद्य को स्वर वाद्य में रखा जाता है तथा अवनद्ध और घन वाद्य को लय तथा ताल दिखाने के वाद्य है।

3:1:9:1) तत् वाद्य– तत् या तन्त्री वाद्य के अर्न्तगत भरत मुनि द्वारा केवल वीणा का वर्णन ही मिलता है, क्योंकि प्राचीन संगीत में तत् वाद्यों में मुख्य स्थान वीणा को ही पर्याप्त था भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में मुख्य दो वीणाओं का वर्णन दिया है– 1.चित्रा, 2.विपंची। इसके अतिरिक्त दो और वीणाओं का वर्णन नाट्यशास्त्र में प्राप्त होता है– कच्छपी तथा घोषका वीणा।

3:1:9:2) सुषिर वाद्य– सुषिर वाद्य में मुख्यता वंश अर्थात् बाँसुरी को रखा है तथा उन वाद्यों को रखा है, जिनमें स्वर उत्पत्ति फूंक द्वारा उत्पन्न होती है। नाट्यशास्त्र में वृन्दवाद्य अर्थात् (अतोद्य) में वंशी का मुख्य स्थान वीणा के साथ प्राप्त है। वंशी वाद्य की वादन क्रिया वीणा का अनुयायी माना जाता है।

---

(1)शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्रम / अध्याय–28 / श्लोक–1–2

3:1:9:3) घन वाद्य– नाट्यशास्त्र में घन वाद्य के अर्न्तगत ऐसे वाद्यों का वर्णन किया गया है, जो ठोस आकार के हो तथा जो आपस में टक्करा कर ध्वनि उत्पन्न करते हो, ऐसे वाद्य कांसा, पीतल लोहा या लकड़ी से निर्मित होते है। जैसे झांझ, मंजीरा, झाल्लरी आदि। इस तरह के सभी वाद्य नाट्यशास्त्र में ताल वाद्य कहे गए है। नाट्यशास्त्र में ताल नामक घन वाद्य का वर्णन है। जिसे आज का मंजीरा कह सकते है।

3:1:9:4) अवनद्ध वाद्य– ऐसे वाद्य जिनके मुँह पर चमड़ा मढ़ा होता है, तथा वह अन्दर से खोखले (पोले) होते है, वह अवनद्ध वाद्य की श्रेणी में आते है। भरत मुनि में अवनद्ध वाद्यों की संख्या सौ बतायी है, परन्तु केवल त्रिपुष्कर वाद्यों का ही वर्णन किया है। जिन तीन पुष्कर वाद्यों (त्रिपुष्कर) की चर्चा भरत मुनि ने की है। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार है– मृदंग, पणव, और दुर्दुर। शोधार्थी द्वारा सम्पूर्ण अवनद्ध वाद्य की चर्चा इसी शोध कार्य में आगे प्रस्तुत की गयी है।

मार्दनिकः पाणविकस्तथा दार्दुरिको बुधैः॥
अवनद्धविधावेश कुतपः समुदाहतः॥॥(1)

अर्थात्– प्रस्तुत श्लोक के अंतर्गत वर्णित है, कि अवनद्ध वाद्यों के अंतर्गत मृदंग पणव दर्दुर आदि को रखा जाता है।

यत्तु तन्त्रीकृतं प्रोक्तं नानातोद्यसमाश्रयम्॥
गान्धर्वमिति तज्ज्ञेयं स्वरतालपदाश्रयम्॥॥(2)

अर्थात्– इस श्लोक के अंतर्गत ताल शब्द का प्रयोग, इस संदर्भ मे देखने को मिलता है, कि वह वाद्य को तंत्री वाद्यों के अंतर्गत आते है। वह ताल स्वर और पद से आश्रय प्राप्त करते हो उन्हें गांधर्व कहा गया है।

गान्धर्व त्रिविधं विद्यात् स्वरतालपदात्मकम्॥
त्रिविधस्यापि वक्ष्यामि लक्षणं कर्म चौव हि॥॥(3)

अर्थात्– भरत मुनि के द्वारा गान्धर्व के तीन प्रकार स्वर, ताल तथा पाद–गत समझाए है तथा आगे इन्हीं के भेंद, लक्षण तथा स्वरूप का वर्णन किया है। जिसका वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

---

(1)शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्रम / अध्याय–28 / श्लोक–5
(2)शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्रम / अध्याय–28 / श्लोक–8
(3)शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्रम / अध्याय–28 / श्लोक–11

अनिबद्धं निबद्धञ्च द्विविधन्त् पदं स्मृतम् ॥॥
अतस्तालगतस्यापि सम्प्रवक्ष्यामि वै द्विजाः ॥

आवापस्त्वथ निष्कामो विक्षेपष्च प्रवेषकः ॥॥
शम्या तालः सन्निपातः परिवर्तः सवस्तुकः ॥

मात्रा बिदार्यङ्गुलया यतिः प्रकरणन्तथा ॥॥
गीतयोऽवयवा मार्गा पादभागाः सपाणयः ॥

इत्येकविंषको ज्ञेयो विधिस्तालगतो बुधैः ॥
गान्धर्वसङ्ग्रहो ह्येष विस्तरञ्च निबोधत ॥॥(1)

अर्थात्– तालगत विधान के अर्न्तगत दो प्रकार के पादों का वर्णन किया गया है। जो कि निबद्ध तथा अनिबद्ध कहे गए है और इसके अर्न्तगत इक्कीस तालगत त्तव के विधान वर्णित किए है। जो कि इस प्रकार है–आवाप, विक्षेप, निष्क्राम, शम्या, प्रवेश,ताल, सन्निपात, परिवर्तन, वस्तु, मात्रा, विदारीमात्रा, अंगुलिमात्रा, यति, प्रकरण, अवयव, गीति, पादभाग, मार्ग और पाणि। इस प्रकार तालगत विधान का वर्णन करने के पश्चात गान्धर्व शास्त्र के समस्त विधान तथा लक्षणों का वर्णन भरत मुनि द्वारा किया गया है। ?इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय के अर्न्तगत ताल के विधानों को भरत मुनि द्वारा वर्णित किया है, जिसे शोधार्थी ने अपनी समझ–बूझ से प्रस्तुत करने का निम्न प्रयास किया है।

3:1:10 ध्रुवाविधानाध्याय

यह अध्याय नाट्यशास्त्र के बत्तिसवें अध्याय के रूप में प्राप्त होता है। प्रस्तुत अध्याय मुख्य रूप से ध्रुवा के विषय पर आधारित है, परंतु प्रस्तुत अध्याय के अंतर्गत ताल के विषय मे भी जानकारी प्राप्त होती है।

वाक्यवर्णा ह्यलङ्कारा लया यत्यथ पाणयः ॥
ध्रुवामन्योन्यसम्बद्धा यस्मात्तस्माद् ध्रुवाः स्मृताः ॥॥(2)

अर्थात्– वाक्यों के आपसी सम्बन्ध होने के कारण इसे ध्रुवा कहा गया है इसमें वर्ण, अलंकार, लय, यति तथा पाणि समाहित होते है। अभिनव गुप्त द्वारा अभिनव भारतीय में इसकी व्याख्या

---

(1)शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद)/भरत–नाट्यशास्त्रम/अध्याय–28/श्लोक–17–20
(2)शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद)/भरत–नाट्यशास्त्रम/अध्याय–32/श्लोक–8

करते हुए कहा है कि **''ध्रुवासंज्ञानि''** शब्द का प्रयोग करते हुए कहा है, जो गीतागं, सप्तरूपागं तथा सप्तरूप अर्थात् नारद द्वारा गीत के सात प्रकार बताए है, उन्हें ध्रुवा कहा है।[(1)]

त्र्यसत्रश्च चतुरस्त्रश्च तालः कार्यों ध्रुवात्मकः॥
षट्कलोऽष्लश्चैव यस्तु पूर्व प्रकीर्तितः॥॥[(2)]

अर्थात्– ध्रुवा के अर्न्तगत त्र्यस्त्र तथा चतुरस्त्र ताल का प्रयोग होता है। अर्थात् इसका प्रमाण छः या आठ कलाओं का होना चाहिए। इसमें छः या फिर आठ कलाओं का प्रयोग होता है।

त्र्यस्त्रं वा चतुरस्त्रं योगं ज्ञात्वा प्रयोगजम्॥
तेन प्रताणयोगेन ध्रुवा कार्याऽवसानिकी॥॥[(3)]

अर्थात्– नाटक में किस ताल का प्रयोग होना है–त्र्यस्त्र या चतुरस्त्र। उसकी अवश्यकता के अनुसार ध्रुवा में इसकी योजना करनी चाहिए। अभिनव गुप्त द्वारा इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है। त्र्यस्त्रं, चतुरस्त्रं पाठयं ज्ञात्वा अर्थात् त्र्यस्त्र या चतुरस्त्र पाठ का ज्ञान प्राप्त करके उसके बाद निर्माण पद प्रमाण अनुसार प्रासादिकी होनी चाहिए। तथा अवसायोऽवसानं निश्चयो रसः अर्थात् निश्चत् या रस का संघर्ष में रहने वाली ध्रुवा अवसानिकी कही जाती है।[(4)]

कनिष्ठिकाग्रहा चैव सन्निपातग्रहा परा॥
तथा चापग्रहा चैव त्रिविधा तु ध्रुवा स्मृता॥॥[(5)]

अर्थात्– ध्रुवाओं के तीन भेद माने गए है। ध्रुवा के तीन भेद इस प्रकार है। कनिष्ठिका ग्रहा, सन्निपात ग्रहा और चापग्रहा।

गान्धर्वे यन्मया प्रोक्तं स्वरतालपदात्मकम्॥
पदं तस्य भवेद्वस्तु स्वरतालानुभावकम्॥॥[(6)]

अर्थात्–जिन स्वर, ताल और पदों के द्वारा निर्माण होने वाले गान्धर्व को पूर्व में बताया है। उसी के अंग या भाग को अगर स्वर और ताल में निबद्ध कर दिया जाए, तो वह पद वस्तु कहा गया है।

---

(1) अभिनव गुप्त/अभिनव भारती टीका भरत–नाट्यशास्त्र/अध्याय–31/पृ0–292
(2)शास्त्री शुक्ल, बाबूलाल(अनुवाद)/भरत–नाट्यशास्त्र/अध्याय–32/श्लोक–15
(3)शास्त्री शुक्ल, बाबूलाल(अनुवाद)/भरत–नाट्यशास्त्र/अध्याय–32/श्लोक–18
(4) अभिनव गुप्त/अभिनव भारती टीका भरत–नाट्यशास्त्र/अध्याय–31/पृ0–298
(5)शास्त्री शुक्ल, बाबूलाल(अनुवाद)/भरत–नाट्यशास्त्र/अध्याय–32/श्लोक–25
(6)शास्त्री शुक्ल, बाबूलाल(अनुवाद)/भरत–नाट्यशास्त्र/अध्याय–32/श्लोक–28

यत्किञ्चिदक्षरकृतं त्तसर्व पदसंज्ञितम्॥
निबद्धञ्चानिबद्धञ्च त्तपदं द्विविधं स्मृतम्॥॥

अतालश्च सतालश्च द्विप्रकारश्च तद् भवेत्॥
सतालञ्च ध्र वार्थेषु निबद्धं तच्च वै स्मृतम्॥॥

यत्तु करणोपेतं सर्वातोद्यानुरञ्चकम्॥
श्रतालमनिबद्धञ्च पदन्तु ज्ञेयमेव तु॥॥[1]

अर्थात्– अक्षरों को संकलित करने से जो निर्मित होता है, उसे पद कहा गया है। और पद को गीत का पर्याय कहा गया है। पद के दो भेद अनिबद्ध और निबद्ध बताए है। इसे अन्य नाम या भेद के रूप में अताल और सताल को वर्णित किया है। ध्रुवाओं के उद्देश्य की पूर्ति करने वाला त्तव सताल और वाद्यों द्वारा सुन्दर वादन के साथ प्रयुक्त होने पर जो रंजकता उत्पन्ना करता हो, उसे अताल व अनिबद्ध पद कहा है।

नियताक्षरसम्बद्धं छन्दोयतिसमन्वितम्॥
निबद्धन्तु पदं ज्ञेयं सताललयमाक्षरम्॥॥[2]

अर्थात्– निबद्ध का वर्णन करते हुए, कहा है कि जो ताल में बन्धा हो, जिसके छन्द निश्चित हो व लय भी निर्धारित हो, उसे निबद्ध पद के रूप में वर्णित किया है।

स्वच्छन्दयतिपादन्तु तथा चानियताक्षरम्॥
अनिबद्धं पदं ज्ञेयमताललयमाक्षरम्॥॥[3]

अर्थात्– प्रस्तुत श्लोक में अनिबद्ध पद को वर्णित किया है, निबद्ध के विपरीत बताया है। इसमें ताल तथा लय में छंद आदि बन्धें नहीं और इसे अनिबद्ध पद कहा है।

वर्णप्रकर्षे तेषान्तु शाम्या तालेन योजयेत्॥
जातीनान्त्वथ सर्वासां छन्दोवृत्तनिदर्शनम्॥
स्थानप्रमाणसंज्ञाभिर्गदतो मे निबोधत॥॥[4]

अर्थात्– आक्षेपिकी ध्रुवा के वर्णों की स्थिति में जब परिवर्तन होने पर शम्या को ताल के भीतर स्थापित करना चाहिए। इस प्रकार ध्रुवा में ताल की शम्या क्रिया का वर्णन किया गया है।

(1)शास्त्री शुक्ल, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–32 / श्लोक–29–31
(2) शास्त्री शुक्ल, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–32 / श्लोक–32
(3) शास्त्री शुक्ल, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–32 / श्लोक–33
(4) शास्त्री शुक्ल, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–32 / श्लोक–48

यतो लय वाद्य–यति–पद–वर्णस्तथाक्षरम् ॥
अनुबध्वाति गीतेषु प्रकारा षट् प्रवेशजा ॥॥(1)

अर्थात्– लय, वाद्य, यति, पद, वर्ण और अक्षर यह छः प्रकार गति में संगत के रूप में प्रस्तुत किए जाते है।

सन्निपातास्तु चत्वारः प्रावेशिक्या भवन्ति हि ॥
शेषा द्वि–सन्निपातास्तु शीर्षकाः षट्पदाः स्मृताः ॥॥(2)

अर्थात्– ध्रुवाओं के विभिन्न प्रकारों में ताल की स्थिति को वर्णित करते हुए प्रवेशिका में चार सन्निपात में ताल तथा अन्य में दो सन्निपात में ताल तथा शीर्षिक के अर्न्तगत छः पाद का वर्ण किया गया है।

स्थापिते भाण्डविन्यासे त्रिसाम्नि परिकीर्तिते ॥
आश्रावणाचं कर्त्तव्यं बहिर्गीतप्रयोगकम् ॥॥(3)

अर्थात्–प्रस्तुत श्लोक में भाण्ड़ वाद्यों की स्थापना का वर्णन किया गया है, जो त्रिसाम नामक पाठ के हो जाने के बाद स्थापित किए जाते है।

ध्रुवायास्तु ग्रहो यस्मात् कलाताललयान्वितः ॥
स तु भाण्डेन कर्त्तव्यस्तझैर्गतिपरिक्रमे ॥॥(4)

अर्थात्– ध्रुवा गीतों में ग्रह का प्रयोग गति, लय तथा ताल के साथ किया जाता है। इस प्रकार ताल के महत्व को बताया है।

नत्कुटस्य तु चत्वारो ग्रहाः कार्याः प्रयोक्तृभिः ॥
सन्निपातश्च शम्या च तालश्चाकाशजस्तथा ॥॥(5)

अर्थात्– नत्कुटक ध्रुवाओं के चार ग्रह भेद बताए है। सन्निपात, शम्या, ताल तथा आकाशज। इस प्रकार ताल दर्शाने के माध्यमों की चर्चा की गयी है।

सुविहितगमकविधायिन्य क्षोभ्यंगीत्ताललयकुशला ॥
आतोद्यार्पितकरणा विज्ञेया गायिका श्यामा ॥॥(6)

---

(1) शास्त्री शुक्ल, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–32 / श्लोक–92
(2) शास्त्री शुक्ल, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–32 / श्लोक–397
(3) शास्त्री शुक्ल, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–32 / श्लोक–359
(4) शास्त्री शुक्ल, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–32 / श्लोक–474
(5) शास्त्री शुक्ल, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–32 / श्लोक–478
(6) शास्त्री शुक्ल, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–32 / श्लोक–498

अर्थात्– गायिका के गुणों की चर्चा करते हुए कहा है, कि गमक को ध्यान में रखती हो संगीत में निपुर्ण हो ताल, लय की कुशलता रखती हो। वाद्यों का भी ज्ञान रखती हों और व्यवस्थित रूप गायन को करती हो। इस प्रकार गायिका में ताल लय संबंधित ज्ञान का वर्णन किया गया है।

इस प्रकार गायन, वादन व विभिन्न वाद्य वादकों के विषय में प्रस्तुत अध्याय में बताया है, कि लय, यति, पाणि ताल आदि का ज्ञान एक संगीतज्ञ तथा नाट्यकार के लिए अति आवश्यक है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय के अर्न्तगत ध्रुवाविधान में ताल व लय का प्रयोग ध्रुवा के साथ प्रयोग किस प्रकार करना है और उसमें किस प्रकार कला, व सन्निपातों का प्रयोग होना है उसके प्रयोग की विधि का वर्णन ताल तथा ताल शास्त्र के संबन्ध में प्राप्त होता है।

3:1:11 अवनद्धा तोद्यविधानाध्याय

नाट्यशास्त्र का यह तैंतिसवाँ अध्याय है। प्रस्तुत अध्याय के अर्न्तगत अवनद्ध वाद्यों की रचना तथा उनके लक्षणों के बारे में वर्णन किया गया है। अवनद्ध वाद्य वह हैं, जो अंदर से पोले (खोखल) होते हैं तथा जिनका मुहँ चमड़े से अच्छादित होता है और यह हाथ या लकड़ी के आघात से बजाने पर ध्वनि उत्पन्न करते हैं, आनद्ध या अवनद्ध वाद्य कहलाते हैं। संगीत ग्रंथों में अलग–अलग प्रकार के अवनद्ध वाद्यों की चर्चा मिलती है। भरत मुनि द्वारा उनके नाट्यशास्त्र में अवनद्ध वाद्य की चर्चा करते हुए, अवनद्ध वाद्य को त्रिपुष्कर की संज्ञा दी है।

''यावन्ति चर्मनद्धानि'' ह्यतोद्यानि द्विजोत्तमाः॥
तनि त्रिपुष्कराद्यानि ह्यवनद्धमिति स्मृतम्॥ (1)

अर्थात्– जितने भी वाद्य चमड़े से आच्छादित हैं, उन सभी को त्रिपुष्कर वाद्य को अवनद्ध शब्द के रूप में ग्रहण करना चाहिए तथा अवनद्ध वाद्यों को पुष्कर वाद्य का तात्पर्य यह भी है कि जब स्वाति मुनि जलाश्य से जल लेने के लिए जाते हैं, तो वह कमल के पत्तों पर गिरने वाली जल की मधुर ध्वनि को सुनकर वह अवनद्ध वाद्यों की रचना करते हैं। कमल का पर्यायवाची शब्द पुष्कर है– जैसे 'पुष्करिण्याँ पटुः शब्दः' अर्थात् कमल के पत्ते।(2) इस कारण स्वाति मुनि द्वारा निर्मित इन अवनद्ध वाद्यों को पुष्कर वाद्य भी कहा गया है।

---

(1) शास्त्री शुक्ल, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–33 / श्लोक–24
(2) अभिनव गुप्त / अभिनव भारती टीका भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–34 / पृ0–410

पतन्तीभिश्च धराभिर्वायुवेगाज्जलाशये॥
पुष्करिण्याँ पटुः शब्दः पत्राणामभवत्तदा॥ (1)

भरत मुनि इन अवनद्ध वाद्यों की संख्या 100 बताई है, परंतु वर्णन केवल त्रिपुष्कर वाद्य का ही किया है।

एतेषान्तु पुनर्भेदाः शतसंख्याः प्रकीर्तिताः॥
किन्तु त्रिपुष्करस्यास्य लक्षणं प्रोच्यते मया॥ (2)

क्योंकि त्रिपुष्कर वाद्यों के अलावा बाकी वाद्यों को निम्न कोटि का माना है। भरत मुनि द्वारा इन वाद्यों को दो वर्गों में वर्गीकृत किया गया है, अंग तथा प्रत्यंग। अंग भाग में वह वाद्य आते हैं जो स्वर में मिलाए जाते हैं और प्रत्यगं में वह वाद्य रखे हैं, जो स्वर में नहीं मिलाए जाते। अंग वाद्य–मृदंग, दुर्दुर और प्रणव तथा प्रत्यय में झल्लरी, पटह, भेरी, दुन्दुभि आदि।

मृदंगो ददुर्रश्चैव पणवेष्वङ्गसंज्ञिते॥
झल्लरीपटहादीनि प्रत्याङ्गानि तथैव च॥ (3)

नाट्यशास्त्र में मृदंग, प्रणव और दुर्दुर को पुष्कर वाद्य कहा है। इनमें तीन पुष्कर वाद्यों की उत्पत्ति के बारे में कहते है कि नाट्यशास्त्र में इसका एक कथा के रूप में भी वर्णन किया गया है। त्रिपुष्कर वाद्यों की उत्पत्ति की कथा भरत मुनि द्वारा इस प्रकार बताई गई है। एक बार स्वाति मुनि वर्षा ऋतु में एक अनाध्याय के दिन जल लेने के तात्पर्य से जलाश्य में गए, उस समय आकाश घने बादलों व मेघों से अच्छादित था तथा अतिवृष्टि तेज वायु के साथ हो रही थी, तब वायु वेग से गिरने वाली पानी की बूंदें कमल के पंखुड़ियों पर गिरकर एक विशेष प्रकार की ध्वनि उत्पन्न हो रही थी, इन छोटी बड़ी पंखुड़ियों पर गिरने वाली बारिश की बूंदों से होने वाले आघात से उत्पन्न होने वाली विभिन्न प्रकार की ध्वनियां स्वाति मुनि द्वारा सुनी गई, इन ध्वनियों में एक विशेष प्रकार की रंजकता थी, इस मधुरता को ध्यान पूर्वक सुनकर, उसे अपने मन में धारण करके पुनः आश्रम लौटकर मुनि द्वारा आश्रम में उस ध्वनि के विषय में भगवान विश्वकर्मा से चर्चा की तथा उन्हें उसी तरह की ध्वनियों के अनुसार विश्वकर्मा की सहायता से मृदंग, पणव और दुदुर्र जैसे पुष्कर वाद्यों की निर्मिति की तथा उन

(1) शास्त्री शुक्ल, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–33 / श्लोक–7
(2) शास्त्री शुक्ल, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–33 / श्लोक–25
(3) शास्त्री शुक्ल, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–33 / श्लोक–16

वाद्यों के मुख चमड़े से मढ़ दिए गए। जो पहले तीन मुख्य वाद्य मिट्टी से सृर्जित किए। उसके पश्चात् लकड़ी तथा लोहे आदि से बनाए जाने लगे तथा उन वाद्यों को भी चमड़े से मढ़ा गया और बद्धियों द्वारा खींचा गया। उसके पश्चात् स्वाति मुनि द्वारा देवताओं की दुंदुभी को ध्यान में रखते हुए, मुरज आलिंकय, उध्वक्र तथा अंकिक वाद्यों की रचना की। इन वाद्यों में मृदंग और दुर्दुर को चमड़े से आच्छादित किया, पणव वाद्य के भीतर तंत्री होती थी। प्रत्येक वाद्य लकड़ी द्वारा निर्मित होते थे तथा अंदर से खाली होते थे। प्रत्येक वाद्य के मुख को चमड़े से मढ़ा जाता था, लेकिन सभी की बनावट भिन्न–भिन्न होती थी। इन सभी वाद्यों की ध्वनि उत्पत्ति किसी तरह आघात द्वारा होती थी। अवनद्ध वाद्यों के प्रयोग के बारे में नाट्यशास्त्र में वर्णन करते हुए कहा है कि पुष्कर वाद्यों में ऐसा कोई वाद्य नहीं जिसका प्रगोग नाट्य के साथ न होता हो।

नास्ति किचिंदनायोज्यमातोंद्य दशरूपके॥
रसभावप्रयोगं हि ज्ञात्वा योज्यं विधानतः॥[(1)]

भरत मुनि द्वारा नाट्यशास्त्र में यह वर्णन किया है कि किसी उत्सव, राजीय, शोभा यात्रा, राजाओं के मंगल अवसर पर, विवाह के उत्सव पर, पुत्रोत्सव के अवसर पर, तथा युद्ध के समय तथा यहाँ अनेक योद्धा इकट्ठे होते हो, वहाँ वाद्यों का प्रयोग होता था। इस प्रकार से कई तरह के अवसर पर इन सभी अवनद्ध वाद्यों का प्रस्तुतीकरण होता है।

उत्सवे चैव याने च नृपाणां मङ्गलंषु च॥
शुभकल्याणयोगे च विवाहकरणे तथा॥

पुत्रादिके समुत्पन्ने सङ्गग्रामे योधसङ्कलै॥
ईदृश्सेषु हि कार्येषु सर्वातोद्यानि वादयेत्॥[(2)]

भरत मुनि ने अपने ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में तीन वाद्यों की चर्चा करते हुए त्रिपुष्कर वाद्य कहा है जो क्रमशः मृदंग, पणव दुर्दुर। इसके अतिरिक्त झल्लरी तथा पटह वाद्यों का वर्णन भी इस ग्रन्थ में मिलता है। अब इन वाद्यों का विस्तृत विवेचन शोधार्थी द्वारा किया गया है।

अथावनद्धं वक्ष्यामि विधिस्वरसमुत्थितम्॥
ननाकरणसंयुक्तं नाना जातिविभूषितम्॥[(3)]

---

(1) शास्त्री शुक्ल, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–33 / श्लोक–18
(2) शास्त्री शुक्ल, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–33 / श्लोक–19–20
(3) शास्त्री शुक्ल, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–33 / श्लोक–23

अवनद्ध वाद्य का सामान्य वर्णन करते हुए भरत मुनि द्वारा स्वरों के उपयोग को अवनद्ध वाद्यों के अर्न्तगत बताते हुए उसके विधान को कहा है।

वाय्वात्मको भवेच्छब्दः स चापि द्विविधो मतः॥
स्वरवाँश्चैव विज्ञेयस्तथा चैवाभिधानवान्॥

तत्राभिधानवान्नम नानाभाषासमाश्रयः॥
स्वरवाँश्चैव विज्ञेयो नानावाद्यसमाश्रयः॥[(1)]

त्रिपुष्कर वाद्यों की वादन विधि के बारे में वर्णन करते हुए, उनके लक्षणों को बताया है। वायु को ध्वनि का प्राण त्तव कहा है, क्योंकि वायु के द्वारा ही ध्वनि का अवास होता है। विज्ञान भी इस पर सहमत है, कि ध्वनि वायु पर निर्भर है, तथा ध्वनि के दो प्रकार बताये है। स्वर या नाद और वर्ण या अक्षर। वर्ण तथा अक्षर भिन्न–भिन्न भाषाओं का ज्ञान देते हुए, भाषा की अभिव्यक्ति करता है, परन्तु स्वर संगीत से सम्बन्ध रखता है, जो वाद्यों पर निर्भर होते हुए, भावों की अभिव्यक्ति करता है।

शारीर्यामथ वीणायां स्वराः सप्त प्रकीर्तिताः॥
तेभ्यो विनिस्मृताश्चैवमातोद्येषु द्विजोत्तमाः॥[(2)]

स्वर उत्पत्ति मावन कण्ठ तथा वीणा से मानी गयी है तथा इन्ही स्वरों का उपयोग अवनद्ध वाद्यों में भी किया गया या यही स्वर अतोद्यों में स्थित हुए (व्यवस्थित माने गए)।

नाट्यशास्त्र ग्रन्थ नाट्य ग्रन्थ होने पर भरत मुनि द्वारा त्रिपुष्कर वाद्यों को नाट्य में तीन तरह से प्रयोग बताया है। 1.वर्ण के अनुसार 2.स्वर के अनुसार 3.ताल के अनुसार। नाट्य में जिस समय जो गीत चल रहा हो तथा उसमें जो वर्ण उपयोग हो रहे हो जैसे कठोर वर्ण के कठोर तथा कोतल वर्णों के साथ कोमल प्रयोग इसी विधि के साथ पुष्कर वाद्यों का वादन करना चाहिए तो वर्ण के अनुसार वादन कहलाएगा। तथा जब नाट्य में गायक या वादक जिस स्वर में गायन तथा वादन करता है अर्थात् अगर गायक या वादक पंचम स्वर में गायन वादन करता है, तो अवनद्ध वाद्य को भी उसी स्वर में मिलाकर उसके साथ संगति की जानी चाहिए तथा नाट्य में भी जिस स्वर की प्रधानता रहती है। उसी स्वर में अवनद्ध वाद्य को मिलाना चाहिए। इस नियम से वादन क्रिया को स्वर के अनुसार माना जाता है। नाट्य मे जिस ताल

---

(1) शास्त्री शुक्ल, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–33 / श्लोक–29–30
(2) शास्त्री शुक्ल, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–33 / श्लोक–31

का उपयोग होता हो तथा अवनद्ध वाद्यों का वादन भी उसी ताल के लघु गुरू वर्णों के अनुकूल वादन होना चाहिए। इन तीनों बातों का वर्णन करते हुए भरत मुनि द्वारा पुष्कर वाद्यो की वादन विधि तथा उनके लक्षण बताए गए है तथा उनके 15 प्रकार बताए है। क्रमशः सोलह अक्षर, चार मार्ग, विलेपन(लेपन क्रिया), छः करण, तीन यतियाँ, तीन लय, तीन गति(गत) त्रिप्रचार (तीन प्रचार), तीन योग या संयोग, तीन पाणि (ग्रह), पंचपाणि प्रहत, तीन प्रहार, तीन मार्जनाएं, अठारह जातियाँ तथा बीस अलंकार इस तरह से सभी प्रकार के योग से पुष्कर वाद्य की वादन क्रिया होती है।

3:1:11:1:1 सोलह अक्षर– सर्वप्रथम सोलह अक्षर की ध्वनियाँ, जो प्रष्कर वाद्यों के बोलों में प्रयोग होते है। उन सोलह अक्षरों को क्रमशः क, ख, ग, घ, ट, ठ, ड, ढ, त, थ, द, घ, म, र, ल, ह। इन सोलह अक्षरों का जब बोलों (वाष्काण) में रचना होकर प्रयोग होता है, तब उनकी अ, आ, इ, ई आदि ऐसे स्वरों से युक्त होकर अक्षर रूप बनते है। स्वर तथा व्यंजन के संयोग को भरत मुनि ने इस प्रकार बताया है। इनमें क के साथ अ, इ, उ, ए, ओं और अं को जोड देने से का, कू, के, को, तथा कं बोल बन जाते है। इसी प्रकार ख के साथ इ, उ तथा ओ का योग कर देने पर खि, खू तथा खो वर्ण हो जाते है।[(1)]

इस प्रकार प्रत्येक अक्षर के साथ स्वर के योग करने से बोलों की रचना हुई है–जैसे ग के साथ भी उ, ए तथा औ के जोड़ देने पर गु, गो, गे बन जाते है। और ट के साथ अ, इ, ओ तथा अं के योग से क्रमशः ट, टि, टो, तथा ठं बनता है। ड के साथ अ, तथा ओ के संयोग से ड, डो बन जाते है। ण के साथ अ, ई तथा ए को संयुक्त करने से ण, णि, णे वर्ण उत्पन्न होते है। इसी प्रकार 'त' तथा थ के साथ अ, आ, ई तथा ए के योग से त, ता, ति, ते तथा था, थ, थि, थे बोल बनते है। द के साथ अ, उ, ए तथा ओं के संयोग से द, दु, दो, हो जाते है। घ से युक्त अ, इ, ओ तथा अं से घ, घि, घे तथा घं बन जाते है। र के साथ अ, आ, इ, ओ तथा ए के संयोग से रा, रि, रे बोल उत्पन्न होते है और ल के साथ अ, आ, इ तथा ए को जोड देने से ल, ला, लि, ले बन जाते है तथा ह और म को शुद्ध मानते हुए उसका प्रयोग बिना किसी स्वर के होता है।[(2)]

---

(1) अभिनव गुप्त/अभिनव भारती टीका भरत–नाट्यशास्त्र/अध्याय–34/श्लोक–39–43
(2) शास्त्री शुक्ल, बाबूलाल(अनुवाद)/भरत–नाट्यशास्त्र/अध्याय–33/श्लोक–40

3:1:11:1:2 चार मार्ग– चार मार्ग का वर्णन करते हुए भरत मुनि ने कहा है कि–

चतुमोर्ग नाम–आलिप्ताड्गित–गोमुखवितस्ताश्च्वारों मार्गों: ॥ (1)

अर्थात्– आलिप्त, अड्डित, गोमुख तथा वितस्ता यह मार्ग के चार प्रकार बताए है। आंकिक, उर्ध्वक और आलिंग्य की चार प्रयोग विधियाँ बतायी है। इन चार मार्गों का वर्णन करते हुए कहा है कि यह चार मार्ग अवनद्ध वाद्यों की प्रहार या आघात के नियम को सिद्ध करते है।

- आंकिक मृदंग के वाम मुख का वादन अड्डित मार्ग कहलाता है।
- आकिंक और ऊर्ध्वक के मुख का वादन आलिप्त मार्ग सिद्ध करता है।
- वितस्ता मार्ग में ऊर्ध्वक के मुख तथा आंकिक के दाहिंने मुख का वादन होते है।
- गोमुखी मार्ग आलिंग्य की सम्पूर्ण वादन तथा समस्त पुष्कर मुखों का वादन गोमुख कहलाता है।

3:1:11:1:3 विलेपन(लेपन)– स्वरों का आवश्यकता के अनुसार जब आंकिक के वाम मुख और ऊर्ध्वक के मुख लेप लगाया जाता है, विलेपन कहलाता है।

मार्जना मृत्कृता कार्या वातकोर्ध्वकयोः सदा॥
लक्षंण मृत्तिकायास्तु गदतो म निबोधत॥(2)

लेपन क्रिया में कौन–सी मिट्टी उपयोगी होती है। इसके लिए भरत मुनि ने वर्णन किया है कि–

निश्शक्रा निस्सिकता निस्तृणा विस्तुषा तथा॥
न विच्छिन्ना न विशदा न क्षारा कटुका न च॥(3)

नावदाता न कृष्णा च नांम्ला नैव च तिक्तिका॥
मृत्तिका लेपने शस्ता तथा कार्या तु मार्जना॥(4)

1. **निश्शक्रा** जो मिट्टी कंकड़ रहित हो।
2. **निस्सेता** जो मिट्टी रेत रहित हो।
3. **निरूतुषा** जो मिट्टी दरदरी अर्थात् जिस मिट्टी में भूसा न हो।
4. **निस्तृणा** जिस मिट्टी में घास अर्थात् कोई तिन्का न हो।
5. **न विच्छिन्ना** जो मिट्टी बहुत चिकनी न हो।
6. **विशदा** मिट्टी सफेद न हो।

---

(1) शास्त्री शुक्ल, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–33 / श्लोक–41–42
(2) शास्त्री शुक्ल, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–33 / श्लोक–111
(3) शास्त्री शुक्ल, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–33 / श्लोक–112
(4) शास्त्री शुक्ल, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–33 / श्लोक–113

7. **न क्षारा** जो मिट्टी खारी न हो अर्थात् नमक वाली न हो या न ही कडवी हो
8. **कृष्णा** मिट्टी काली भी न हो ज्यादा।
9. **टवदाता** जो मिट्टी पोली भी न हो।
10. **नाम्ला** जो रूखी न हो
11. **न तिक्त** जो मिट्टी ज्यादा तीखी न हो।

इन सभी अवगुणों से रहित मिट्टी या नदी के किनारे की वो मिट्टी मुधर तथा काले रंग वाली हो यदि इस प्रकार की मिट्टी न मिले तो गेहुँ तथा जौ के आटे या फिर दोनों का मिश्रण करके लेप करना चाहिए, परन्तु इस प्रकार का लेपन उत्तम नहीं माना जाता है, क्योंकि इस प्रकार के लेपन से केवल एक ही तरह की ध्वनि (स्वर) निकलने लगता है। इसलिए काली मिट्टी को स्वर के लिए सर्वश्रेष्ठ माना गया है और उसमें इच्छित स्वर निकालने की भी व्यवस्था होती है।

3:1:11:1:4 षटकरण– अंग वाद्यों का प्रत्यांग वाद्यों का संबंध किस तरह से हो उसके लिए नाट्यशास्त्र में भरत मुनि ने छः प्रकार के करणों का वर्णन किया है और वादकों को इन्ही छः करणों के विधान के अनुसार वादन करना चाहिए है।

षटकरणं नाम–रूप कृतप्रतिकृतं प्रतिभेदों रूपशेषमोघः प्रति शुष्केति॥(1)

अर्थात्– 1:रूप, 2:कृत–प्रतिकृत, 3:प्रतिभेद, 4:रूपशेष, 5:प्रतिशुष्क और 6:ओघ।

1: रूप– विभाग के अनुसार दोनों हाथों से करणों को निकालने को रूप कहा जाता हैं।

2: कृत–प्रतिकृत– त्रिपुष्कर वाद्य में जब एक करण बोल की उत्पत्ति की जाए तो उसे कृत–प्रतिकृत कहा जाता है।

3: प्रतिभेद– जब मृदंगों पर एक साथ दो करणों को निर्गत करने के पश्चात् जब उसमें वादन क्रिया के उपरिपाणि का प्रयोग किया जाता है, तो वह प्रतिभेद कहा जाता है।

4: रूपशेष– जब बोलों (करणों) में कोई अन्तर न हो खण्डों की कमी हो जाए **अर्थात्** मात्राओं में विभाग कम हो तो उसे रूपशेष कहेंगें।

---

(1) शास्त्री शुक्ल, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–33 / पृष्ठ–357

5: प्रतिशुष्क– मृदंग, ददुर्र, पणव आदि सभी वाद्यों का एक साथ वादन तथा एक ही स्वर में एक साथ वादन क्रिया करना प्रतिशुष्क कहलाता है।

6: ओघ– एक निरन्तर ध्वनि में अक्षरों को एक धारा प्रवाह के समान सभी वाद्यों को एक साथ द्रुत लय में वादन करने को ओघ कहा गया है।

3:1:11:1:5 त्रियति– यति के भरत मुनि नाट्यशास्त्र में वर्णन किया है।

त्रियतिर्नाम–समा स्त्रोतोगता गोपुच्छा चेत्यन्वयात॥(1)

अर्थात्– समा, स्त्रोतोगता तथा गोपुच्छा ये तीन प्रकार की यतियों का वर्णन किया है तथा ये यति पद, वर्ण या अक्षरों जब गीत तथा वाद्य के अन्र्तगत आते है, तो यति इनको एक नियम में बांधने का कार्य करती है तथा लय का जो प्रवाह या गति के जो विधान हैं, उसे यति कहा गया है अथवा लय का कितने विधानों से प्रयोग हो सकता है, तथा उसका जो नियम है, वह यति है।

3:1:11:1:6 त्रिलय– निश्चित ठहराव के काल को लय कहा है अर्थात् दो कार्यों के मध्य एक जैसी स्थिति को रखने की क्रिया लय को निर्मित करते है। नाट्यशास्त्र में तीन प्रकार की लय का वर्णन किया गया है।–

त्रिलयं नाम–द्रुतमध्यविलम्बितयोगत्॥(2)

अर्थात्– द्रुत, मध्य तथा विलम्बित यह तीन प्रकार लय के वर्णित किए गए है।

3:1:11:1:7 त्रिपाणि (पाणि)– भरत मुनि द्वारा नाट्यशास्त्र में तीन प्रकार के पाणि का वर्णन किया गया है। जिन्हें यति और लय के साथ जोड़ दिया है। तीन पाणि इस प्रकार है। 1:सम पाणि 2:अर्धपाणि 3:उपरिपाणि।

3:1:11:1:8 त्रिगति– गायन तथा वादन के साथ पुष्कर वाद्यों का किस प्रकार से प्रयोग हो वह गति है। नाट्यशास्त्र में गति के तीन प्रकार बताए है।

त्रिगति नाम–त्तवमनुगत मोघश्चेति॥(3)

---

(1) शास्त्री शुक्ल, बाबूलाल(अनुवाद)/भरत–नाट्यशास्त्र/अध्याय–33/पृष्ठ–357
(2) शास्त्री शुक्ल, बाबूलाल(अनुवाद)/भरत–नाट्यशास्त्र/अध्याय–33/पृष्ठ–357
(3) शास्त्री शुक्ल, बाबूलाल(अनुवाद)/भरत–नाट्यशास्त्र/अध्याय–33/पृष्ठ–357

अर्थात्– त्तव, अनुगत और ओघ यह तीन प्रकार बताए है।

3:1:11:1:8:1 तत्व गति– इसमें गान शब्दों के अनुकूल ही वादक को अपने अक्षरों का आघात करना चाहिए तथा बोलों अक्षरों में बंटा हुआ हो तथा जिसमें गान के स्वर स्पष्ट रूप से समझे जा सके।

3:1:11:1:8:2 अनुगत– इसमें वादन का प्रारम्भ समपाणि या अवपाणि से करना होता है तथा गीत की संगति करते हुए। इसमें करणों का उपयोग स्पष्ट आघात द्वारा करनी चाहिए।

3:1:11:1:8:3 ओघ– यह उपरिपाणि में आरम्भ होता है इस गति द्रुत होनी चाहिए और आविद्ध करण का अधिक प्रयोग करना चाहिए।

3:1:11:1:9 त्रिसंयोग– लघु, गुरू तथा प्लुत का पुष्कर वाद्यों के बोलो या अक्षरों के साथ किस प्रकार लय गति के सयोग से रचना की जाएगी उसे संयोग कहा है। संयोग के तीन प्रकार है– 1:गुरू संयोग 2:लघु संयोग 3:गुरू लघु संयोग।

3:1:11:1:10 पंच पाणि प्रहत– नाट्यशास्त्र में पुष्कर वाद्यों के वादन के लिए पाँच प्रकार के हाथ से आघात नियम बतलायें है। जिन्हें पंचपाणिप्रहत कहा जाता है नाट्यशास्त्र में इनका वर्णन इस प्रकार है। 1:सम पाणि, 2:अर्ध पाणि, 3:पार्श्व पाणि, 4:प्रवेशिनी पाणि, तथा 5:अर्धार्धा पाणि।

1. सम पाणि– हथेली द्वारा समतल प्रहार करने की क्रिया।

2. अर्ध पाणि– हथेली पर आधी हथेली से प्रहार करना।

3. पार्श्व पाणि– पार्श्व द्वारा हथेली पर प्रहार करना।

4. प्रवेशिनी पाणि– हाथ की अंगुलियों के आगे के भाग द्वारा प्रहार करना।

5. अर्धार्धा पाणि– हथेली से एक चौथाई प्रहार करना।

3:1:11:1:11 त्रिप्रहार– पंचपाणि प्रहारों के द्वारा उत्पन्न हुए ध्वनि के कई गुण होते हैं। इन त्रिप्रहार में इनका वर्णन मिलता है। इन पंचपाणि प्रहारों के तीन रूपो का वर्णन, इस प्रकार दिया है– 1:निगृहित और 2:अर्धनिग्रहीत तथा 3:मुक्तं।

3:1:11:1:12 त्रिमार्जना– त्रिमार्जना शब्द का अभिप्राय को वाद्य को स्वर में मिलाने से है। जिस अंश स्वर में गायन–वादन किया जाता है, उसी प्रमुख स्वर में अवनद्ध वाद्य को मिलाया जाता है। इन त्रिमार्जना के नाम इस प्रकार हैं– 1:मयूरी, 2:अर्धमयूरी तथा 3:कार्माखी।

3:1:11:1:13 अलंकार– अलंकार मृदंग पर बजाए जाने वाले अक्षरों की संख्या 16 बताई गई है, और इन्हीं के आधार पर 20 प्रकार के अलंकारों की रचना की गई है। इन 16 अक्षरों में हेर–फेर कर, इन 20 अलंकारों की रचना होती है। नाट्यशास्त्र में इनके संबंध में अधिक विवेचना नहीं प्राप्त होती।

3:1:11:1:14 जाति– नाट्यशास्त्र में भरत द्वारा पुष्कर वाद्यों की जातियां 18 का वर्णन प्राप्त होता है। इन जातियों का निर्माण नाट्य के अंतर्गत होने वाले वृंदगान तथा वृंदवादन में पात्रों द्वारा प्रयोग होने उसमें स्वर को मिलाने, उन में प्रयोग किए जाने वाले छंद, गुरु, लघु, वर्णों का प्रयोग आदि सभी के सम्मिश्रण से इन जातियों का निर्माण हुआ है **अर्थात्** पात्र के लिए किस प्रकार के अक्षरों व विधानओं का प्रयोग होगा, उसे जाति कहा है। इन 18 जातियों के नाम इस प्रकार हैं शुद्धा, एकरूपा, देशानुरूपा, देशादपेतरूपा, पर्याय, विष्कम्भ, पर्यस्ता, सांभर, पर्ष्णिसमस्ता, दुष्करकरणा, अर्ध्वगोष्ठिका, उच्चितिका एवं वाद्य, मृदंगप्रणवा, अक्कीर्णा, अर्धक्कीर्णा, समलवा और विद्युत।

3:1:11:1:15 त्रिप्रचार – त्रिपुष्कर वाद्यों को हाथ के द्वारा प्रहार करने के नियम को त्रिप्रचार कहते हैं। उसके तीन प्रकार होते हैं– 1:सम प्रचार, 2:विषम प्रचार और 3:सम विषम प्रचार।

इस प्रकार अवनद्ध वाद्यों के लक्षण के पश्चात् शोधार्थी द्वारा इसी अध्याय के अर्न्तगत नाट्यशास्त्र में वर्णित अवनद्ध वाद्य का आकार, स्वरूप तथा निमार्ण के साथ उनके वर्तमान स्वरूप को व्याख्ति किया गया है।

3:1:11:2:1 पणव– भरत मुनि ने मृदंग के पश्चात् पणव वाद्य को सबसे ज्यादा महत्व दिया है। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में वर्णन किया है, कि मृदंग के अतिरिक्त पणव तथा ददुर्र भी स्वाति के द्वारा विश्वकर्मा की मदद से इनकी रचना की गई है।

गत्वा सृष्टं मृदङ्गाँश्च पुष्करान सृजन्तः॥
पणंव दर्दुरश्चैव सहितो विश्वकर्मणा॥(1)

भरत मुनि ने पणव के आकार तथा स्वरूप को वर्णित करते हुए कहा है कि–

पणवश्चापि कर्तव्यो दीर्घत्वे षोडषाड्गुल॥
कृशमध्याडड्गलान्यष्टौ पंचड्गुमुखस्तथा॥(2)

---

(1)शास्त्री शुक्ल, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–33 / श्लोक–10
(2)शास्त्री शुक्ल, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–33 / श्लोक–247

अर्थात् इसकी लंबाई 16 अंगुल होती है, इसका बीच का भाग दबा हुआ रहता है, जिसका आकार 8–8 अंगुल का है तथा इसके दोनों मुख 5–5 अंगुल के होते हैं, वह पणव वाद्य कहा जाता है। उसके काठ (खोल) की मोटाई आधे अंगूठे जितनी होती है। पणव के दोनों मुख को कोमल चमड़े द्वारा मढ़ा जाता है तथा उसको बंद्धियों द्वारा कस दिया जाता है। बद्धियों का कसाव थोड़ा ढीला रखा जाता है, ताकि जिस समय उसका वादन किया जाए, तो उस समय मध्य भाग को बाएं हाथ द्वारा दबाकर या ढीला छोड़कर उसमें जरूरत के अनुसार ऊंची–नीची ध्वनि उत्पन्न की जाए। भरत मुनि द्वारा नाट्यशास्त्र में से पणव से निकलने वाले अक्षर इस प्रकार बताए हैं– क, ख, ग, घ, ण दे, व, हण, ला, कु, लि, लं, घ्र, णे, कि, रि, की।

कखगा पणधरवाङो प्रद्दणाद् ब्रहुलां ध्राहुलाम्॥
एते वर्णा नित्यं पणवातोद्याविने प्रयोक्तव्याः॥(1)

तथा पणव वाद्य के वादन में प्रयोग होने वाले वर्ण इस प्रकार बताए है– किरि, घिण्टा, यो, थो, णो, धोत्र, हुला, इत्यादि। पणव वाद्य के वादन में बाएं हाथ से पणव की बद्धियों को कसते हुए या ढीला करते हुए और दाहिने हाथ की कनिष्ठा तथा अनामिका उंगलियों के अग्रभाग द्वारा अघात कर विभिन्न करणों अर्थात् बोलो के वादन की क्रिया की जाती है तथा करणों को राग के अनुसार तथा अलंकारों से सुसज्जिज कर विभिन्न प्रकारों की ध्वनियों को अर्थात् पणव में प्रयुक्त होने वाले वर्णों से युक्त ध्वनियो को कनिष्ठा तथा अनामिका द्वारा अघात करके वादन किया जाता था। अन्य बोलों के निकास के लिए बाकी उंगलियों के द्वारा अघात करके वादन किया जाता था। पणव वाद्य में कनिष्ठा और अनामिका द्वारा होने वाला आघात को शुद्ध प्रहार कह गया है तथा इन दोनों उंगलियों का प्रचुर उपयोग होता था। पणव वाद्य के ना अधिक कसे होने तथा ना अधिक ढीले होने पर क, ठ, ण, तं वर्ण निकलते हैं। जो कि पूर्ण रूप से कसे होने या ढीले होने से उत्पन्न नहीं होते। पूर्ण रूप से कसे हुए प्रणव पर ख, ख, र, ट, ण़ वर्ण उत्पन्न होते हैं तथा ढीले होने पर त्ता, त्थेन, बोलो का निकास होता था तथा पणव वाद्य पर तिरछा आघात करने पर कहुलां, त्रकुलां आदि ऐसी ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार नाट्यशास्त्र के अंतर्गत पणव वाद्य के वर्ण की निकासी तथा उनकी विधि भरत मुनि द्वारा वर्णित की गई है। इस वाद्य के प्राचीन से वर्तमान तक कई नाम प्राप्त होते हैं, इस

---

(1)शास्त्री शुक्ल, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–33 / श्लोक–58

वाद्य को मध्यकाल में हडुका तथा आवज कहा गया है और वर्तमान में भी इसे हडुक का नाम से ही जाना जाता है। इस वाद्य का वर्णन मध्यकालीन कई ग्रंथों से प्राप्त होता है– जैसे मन्सोल्लास, संगीत रत्नाकर, संगीत पारिजात, आईने अकबरी में इसका वर्णन प्राप्त होता है। इन सभी में इसे हडुक व कई स्थानों पर इसे आवज कहा है। शारंगदेव के पूर्व तक पणव अर्थात् हडुक का महत्व अत्याधिक था। शारंगदेव के काल तक आते–आते इस बात का स्थान मृदंग ने ले लिया। आवज का प्रचलन उस समय था तथा इसी काल में तबले का अविष्कार हुआ और आधुनिक काल में आवज तथा हडुका जैसे वाद्य लोक संगीत के वाद्य बन गए। उत्तर भारत में कहांर जाति के लोग इस वाद्य का वादन करते हैं।

3:1:11:2:2 दर्दुर– नाट्यशास्त्र में भरत मुनि द्वारा दर्दुर वाद्य को अवनद्ध वाद्यों की श्रेणी में रखा गया तथा इसको मुख्य महत्वता दी है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इस अवनद्ध वाद्य की महत्वता परवर्ती आचार्यों को स्वीकार नहीं थीं।

दर्दरश्च घटाकारो भवस्यष्ट्यङ्गलिस्तथा ॥
मुखं तस्य च कर्तव्यं घटस्य सद्दशं बुधैः ॥
द्वादशाङ्गलविस्तीर्णे पीनेष्ठञ्च समन्तः ॥[(1)]

भरत मुनि के अनुसार दर्दुर वाद्य आज के घट के समान होता है। इसका मान सोलह अंगुल का है तथा मुख का व्यास बारह अंगुल का होता है व इसके किनारे चौड़े तथा माटे होते है तथा इसके मुख को चमड़े से अच्छादित किया जाता है और पणव की तरह ही इसे भी बद्धियों द्वारा कसा जाता है भरत मुनि ने दर्दुर में प्रयोग होने वाले वर्णों से सम्बद्ध कहा है।

रेक्लति त्रिकलौ क्लेचद्रो गोणो हथिण्ण संयुक्ताः॥
इति दर्दर प्रद्दाराः कार्या मुक्ता थणण्णाँश्च॥[(2)]

अर्थात्– दर्दुर वादन की स्थिति में आघात करके इन बोलों की उत्पत्ति होती है रेक्लति, त्रिकल, क्लेचद्रो, गोणो, हथिण्णों और धणण्ण। ऊपर बताए गए सभी वर्णों का दर्दुर वाद्य पर दोनों हाथों के प्रयोग से वादन किया जाता है। दाहिनें हाथ द्वारा मुक्त तथा बन्द बोलों के वादन के लिए होता था तथा बाएं हाथ का प्रयोग दाहिनें हाथ की सहायता के लिए किया

(1)शास्त्री शुक्ल, बाबूलाल(अनुवाद)/भरत–नाट्यशास्त्र/अध्याय–33/श्लोक–249
(2)शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद)/भरत–नाट्यशास्त्र/अध्याय–33/श्लोक–72

जाता था। नाट्यशास्त्र में वर्णित इस दर्दुर वाद्य के कुछ समय पश्चात् घट के रूप में प्रचिलित हुआ। संगीत रत्नाकर में शारगंदेव ने दर्दुर को ही घट कहा है।

घनः श्लक्षणः सुपक्वश्च स्तोकवक्त्रौ महोदरः॥
पणिभ्यां वाद्यते तज्ज्ञैश्चर्मनद्धान्नो घटः॥
कथिताः पाटवर्णा ये मर्दल ते घटे मताः॥ (1)

नाट्यशास्त्र के समान संगीत रत्नाकर में घट का वर्णन अधिक विस्तार वाला नहीं है और उसकी वादन क्रिया भी मर्दल की तरह ही मानी है। जब की नाट्यशास्त्र में भरत मुनि द्वारा दर्दुर के अपने मुख्य वर्ण (पटाक्षर) बताए है, जब कि ये भी वर्णन है कि मृदंग और पणव के साथ वादन करते हुए, इसमें मृदंग के बोल भी बजाए जाते है। भरत मुनि ने दर्दुर घटाकर का जो वर्णन किया है उसकी तुलना में परवर्ती आर्चायों का वर्ण न गिने जाने के योग्य है यही करण है कि दर्दुर का महत्व होता गया और उस समय के घट का भी प्रचलन कम होता गया परन्तु उसका लोप नहीं हुआ त्तपश्चात् 'घट' का एकरूप और सामने आया जो पूरा घट की तरह ही था परन्तु उसमें चमड़ा अच्छादित नहीं होता या इस तरह से इसके दो रूप हो गए घट या घड़ा जो 'संगीत सार' में वर्णित है।(2)

3:1:11:2:3) मृदंग– नाट्यशास्त्र में मृदंग, पणव तथा दद्रुर को पुष्कर वाद्य कहा है। इन सब में मृदंग को विशेष स्थान दिया है। इसकी उत्पत्ति में भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में स्वाति मुनि की कथा द्वारा स्पष्ट किया है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाए तो मृदंग का वर्णन वेदों में प्राप्त नहीं होता। फिर भी मृदंग का नाम रामायण, महाभारत जैसे ग्रन्थों में प्राप्त होता है। उसी के द्वारा यह कहा जा सकता है कि मृदंग का प्रचार रामायण युग से पहले हो चुका होगा। बाल्मिकी रामायण का अध्ययन करने के पश्चात् यह कह सकते है, कि उस काल में मृदंग को अवनद्ध वाद्य में प्रमुख्ता प्राप्त थी रामायण में मृदंग तथा मुरज को भिन्न–भिन्न नाम से जाना गया है।

नृतेन चापरः क्लान्तः परनविप्राहतास्तथा॥
मुरजेषु मृदङ्गेषु पीठिकासु च संस्थिता॥(3)

---

(1) चौधरी सुभद्रा(अनुवाद) / शारंगदेव–संगीत रत्नाकर / वाद्याध्याय / श्लोक–1085–1086
(2) पं0 पार्श्वदेव / संगीत सार भाग–2 / पृष्ठ–72
(3) सुन्दरकाण्ड सर्ग–11 / पृष्ठ–6

नाट्यशास्त्र में भी मृदंग तथा मुरज का वर्णन मिलता है। मृदंग तथा मुरज का समानार्थीक होने का वर्णन कहीं–कहीं भरत ने भी नाट्यशास्त्र में किया है।

यधतृ कुर्यान्मुरजे प्रहारजातं गति प्रचारेषु॥
अनुगतमक्षरवृत्तं तदेव वाद्यन्तु पणवेऽपि॥(1)

अर्थात्– मुरज पर जिन अक्षरों (वर्णों) का उपयोग रूपकों के प्रदर्शन के समय गति प्रचार और अन्य नियमों के लिए किया जाता है। उन्हीं वर्णे का उपयोग पणव वाद्य के वादन में भी व्यवस्थित किए जा सकते है।

मृण्मयत्वान्मृदङ्गस्तु भाण्डं भ्रमयतीति च॥
मुरजास्तुर्ध्वकरणादातोघं तोदनादपि॥(2)

अर्थात्– यह वाद्य मिट्टी से निर्मित होने के कारण मृदंग तथा चारों तरह घुमाने की वजह से भाण्ड और ऊपर की तरफ नियुक्त होने से मुरज कहलाता है। तथा तोदन या आघात से समन्वित होने के कारण आतोद्य कहे जाते है। मृदंग का नाम परिवर्तन होने से मृदंग का प्राचीन रूप कब लुप्त हो गया जिसका वर्णन भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में किया था परन्तु यह कहना भी कठिन है कि जिस मृदंग को आज जानते है वह मृदंग या पखावज कहा जाता है। तथा दक्षिण में मृदंगम् कहलाता है।

वह नाट्यशास्त्र में वर्णित मृदंग का सिर्फ एक भाग है। यह परिवर्तन मृदंग सांतवीं शताब्दी में विकसित हुआ होगा। भरत मुनि द्वारा रचित नाट्यशास्त्र में मृदंग को कई स्थानों पर त्रिपुस्कर भी कहा है।इससे ऐसा पंतीत होता है कि जैसे आधुनिक तबले के दो भाग है उसी प्रकार भरत मुनि के समय भी मृदंग के तीन भाग होगें। इसके बारें में भरत मुनि ने कहा है कि–

त्रिधा क्रिया मृदंङ्गानां हरोतकी यवाश्रयां॥
तथा गोपुच्छारूपा चभवत्येषा स्वरूपतः॥(3)

अर्थात्– मृदंग का स्वरूप बताते हुए उसे तीन प्रकार से उसका वर्णन किया है। वह हरड़ के समान या जौ के समान या फिर गोपुच्छा के समान माना जा सकता है।

---

(1) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–33 / श्लोक–85
(2) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–33 / श्लोक–273
(3) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–33 / श्लोक–242

हरीक्याकृतिस्त्वङ्की यवमध्यस्तोर्ध्वकः॥
आलिङ्गयञ्चैव गोपुच्छाकृतिरेषा प्रकीर्तितः॥[1]

अर्थात्– आकिंक को हरीतकी की या हरड़ के समान बताया है। ऊर्ध्वक के रूप में जौ या यवाकृति बतायी है तथा आलिंग का रूप गोपुच्छा के समान होता है।

इस बात से यह स्पष्ट होता है कि जिस प्रकार आधुनिक युग में तबले के दो भाग है और उनके एक करने से तबला कहलाता है और दोनों को अलग–अलग करने से बायाँ और दाँया कहा जाता है। उसी प्रकार भरत मुनि ने भी मृदंग के तीन भाग करके उसे ऊर्ध्वक, आकिंक और आलिंग कहे जाते है और एक साथ होने से मृदंग कहा जाता है। ऊर्ध्वक और अलिंग्य का एक मुख पर वादन किया जाता था और आंकिक के दोनों मुखों पर वादन क्रिया होती थी। उर्ध्वक और आलिंग को ऊपर की तरफ खड़ा रखकर वादन किया जाता था और आकिंक को गोद (अंक) में रखकर दोनों मुखों पर वादन किया जाता था।

भरत मुनि द्वारा इनके आकार को इस प्रकार बताया है। आंकिक की लम्बाई साढ़ें तीन (बलिश्त) के मान की रखी है तथा इसका मुँह चौदाह अंगुल का रखना चाहिए। आलिंग्यक की तीन बलिश्त की लम्बाई तथा मुँह सिकुड़ा हुआ आठ अंगुल प्रमाण का होना चाहिए। भरत मुनि द्वारा इन वाद्योंके मढ़ने वाले चर्म के लक्षण बताते हुए कहा है कि मृदंग पर मढ़ा जाने वाला चमड़ा न तो पुराना हो और न ही कहीं से कटा या फटा हो तथा न ही किसी पक्षी द्वारा ताड़ित किया गया हो और चर्म मोटा भी न हो और न ही धुँए तथा आग द्वारा बिगड़ा हुआ हो। इस प्रकार इस छः दोषों से रहित चमड़ा हो। ऐसा चमड़ा जो नए कोमल पत्तों के समान और कुन्द के फूलो के स्मान सफ़ेंद तथा चमकदार होना चाहिए। इस तरह के चर्म को रोओं से रहित करके उसको मृदंग के मुखों पर प्रमाण स्वरूप अच्छादित कर दें, फिर चर्म को बद्धियों द्वारा कसा जाए। इस तरह से बनाए गए मृदंग आदि वाद्यों का नाट्यशास्त्र में वर्णन करते हुए उनकी वादन क्रिया के नियम बताए है। नाट्यशास्त्र में मृदंग के सोलह पाटाक्षर बताए है। क, ख, ब, घ, ट, ठ, ड, ढ, त, थ, द, ध, म, र, ल, ह। आंकिक के दाहिनें मुख से ट, ढ, त, थ, र अक्षर उत्पन्न होते है तथा बाएं मुख घ, म, ह। उर्ध्वक पर ग, द, क, र तथा ख, ठ, ड़, ध आलिग्य पर निकाले जाते है। आंकिक, उर्ध्वक तथा आलिग्य के वादन की विधि

(1) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–33 / श्लोक–243

तथा प्रहार या आघात के नियम के लिए नाट्यशास्त्र में चार मार्गों का वर्णन किया गया है जो इस प्रकार है आड्गित, आलिप्त, वितस्त और गोमुखी।

चतुर्मार्गमिति यदुक्तं तदनुव्याख्यास्यामः॥
अड्गितालिप्तमार्गौ तु वितस्तो गोमुखस्तथा॥
मार्गाश्चत्वार एवैते प्रहारकरणाश्रयाः॥ (1)

वामक और उर्ध्वक की क्रिया द्वारा स्वर उत्पत्ति के लिए उस पर लेपन (विलेपन) किया जाता है। जिससे उसमें खिंसचाव तथा उसमें ढ़ीलेपन रहता है। यह लेपन मिट्टी के द्वारा किया जाता है। भरत मुनि ने लेपन के लिए श्रेष्ठ मिट्टी के लक्षण बताते हुए कहा है कि जो मिट्टी कंकड़ रहित, भूसे के बिना हो तथा न खारी हो, न तीखी हो न ज्यादा सफ़ेद हो। इस तरह इन सभी अवगुणों से रहित मिट्टी तथा नदी के तट की तथा चिकनी मिट्टी लेपन के लिए उपयोगी है। यदि इस प्रकार की मिट्टी न मिले तो गेहुँ तथा जौ के आटे का लेपन किया जाता था। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र के समय जिस मृदंग का उल्लेख था उसमें अन्तर पड़ने लगा और संगीत रत्नाकर तक मृदंग को मर्दल कहा जाने लगा।(2) तथा उर्ध्वक और आलिग्य का लोप हो गया। मध्य युग तक संगीत ग्रन्थकारों ने मर्दल का पुनः मृदंग कहा गया ।

अधुनिक युग में हम जिसे उत्तर भारत में मृदंग या पखावज कहते है। उसे दक्षिण भारत में मृदंगम् कहा जाता है। मृदंग की उत्पत्ति के लिए पुराणों में वर्णन है कि देवादिदेव द्वारा सत्युग में त्रिपुरा सुर का बद्ध करने के पश्चात् नृत्य किया तथा त्रिपुरा सुर के वध के पश्चात् उसके रक्तसे मिट्टी का कीचड़ बन गया तथा उसी असुर की खाल से उसे मढ़ दिया गया। तब ब्रह्म जी के आदेश अनुसार गणेश जी ने उस निर्मित मृदंग पर ताल बजाया।(3) मृदंग के विषय में ऐसा कहा गया है कि नाट्यशास्त्र से लेकर संगीत रत्नाकर तक जाति तथा प्रबन्ध गायन के साथ मृदंग का प्रयोग किसी न किसी रूप से होता था। आगे चलकर मध्य युग के प्रबन्ध तथा ध्रुपद गायकी के साथ वही मृदंग प्रयोग हुआ, जो बाद में उत्तर भारत में पखावज कहलाया।

(1)शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / श्लोक–44 / अध्याय–33
(2) चौधरी सुभद्रा(अनुवाद) / शागंदेव–संगीत रत्नाकर / श्लोक–1027 / अध्याय–5 वाद्याध्याय
(3) सेन अरूण कुमार / भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन / पृ0–69

3:1:11:2:4 पटह— नाट्यशास्त्र में भरत मुनि ने पटह को प्रत्यंग वाद्य की श्रेणी में रखा है।

मृदंगो दर्दुरश्चैव पणवेष्वड्ग संज्ञिते।
झल्लरी पटहादीनि प्रत्यड्गनि तथैव च।।(1)

नाट्यशास्त्र में पटह के निर्माण में भरत मुनि द्वारा वर्णन है कि मृदंग, पणव आदि के निर्माण में स्वाति मुनि ने झल्लरी पटह जैसे प्रत्यंग वाद्यों का निर्माण लकड़ी तथा लोहे द्वारा करते हुए। उनके मुख पर चमड़ा अच्छादित कर दिया। पटह के वादन के समय उनका विस्तार तथा बड़े आकार के होने के कारण या ढ़ीला चमड़ा होने पर केवल गम्भीर ध्वनि की ही अपेक्षा रखी जाती है।

भरत मुनि ने वर्णन किया है कि इस पटह वाद्य में न स्वरों की सृष्टि की जाती है, न नियमबद्ध आघात की स्थिति होती है, न इसमें सपष्ट वर्ण उत्पन्न होते है तथा न ही इसकों स्वरों में मिलाने की जरूरत होती है। पहट का वादन केवल समय तथा कार्य को देखते हुए किया जाता है। भरत मुनि ने पटह की वादन विधि तथा उसके वर्णों का और न उसके आकार का वर्णन नाट्यशास्त्र में किया। पटह के बारे में नाट्यशास्त्र में केवल इतना ही वर्णन प्राप्त होता है परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाए तो पटह भारत के प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों में पटह का वर्णन प्राप्त होता है। उससे यह प्रतीत होता है कि मृदंग के पश्चात् पटह को ही प्रमुख माना होगा। रामायण के सुन्दरकाण्ड़ में पटह, मृदंग, डिंड़िम, आडम्बर आदि अवनद्ध वाद्यों का उल्लेख प्राप्त होता है।

पटहं चारूसर्वाड्गी न्यस्य शेते शुभस्तनी॥ (2)

रामायण के बाद सभी प्राचीन ग्रन्थों में जैसे महाभारत भी है और संस्कृत नाटकों में भी पटह का वर्णन मिलता है। ग्रन्थों में मृदंग से ज्यादा पटह का वर्णन प्राप्त होता है। इसका कारण यह भी है कि पटह लोक संगीत तथा शास्त्रीय संगीत दोनों के साथ प्रयोग होता है। जब कि मृदंग का प्रयोग शास्त्रीय संगीत में मंगलकारी माना जाता है। और पटह का प्रयोग मानव के स्वभाव के ऊपर ही होता था। अहोबल के ग्रन्थ संगीत पारिजात के अनुसार पटह का अर्थ ढोलक है। ''पटह ढोलक इति भाषायम'' उसके यह स्पष्ट है कि पटह भेरी जाति का वाद्य है। जिसकी लम्बाई ड़ेढ़ हाथ की होती है तथा इसको मोटे चमड़े से अच्छादित किया जाता

(1)शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत—नाट्यशास्त्र / अध्याय—33 / श्लोक—16
(2) सुन्दरकाण्ड / सर्ग—10 / श्लोक—39

है। तथा लकड़ी और हाथ के आघात के द्वारा इसमें ध्वनि उत्पन्न की जाती है।(1) संगीत के प्रस्तुत ग्रन्थों में पटह का विषृत वर्णन मिलता है। उनमें मानसोल्लास, नान्यदेव का भरत–भाष्य, सुंगीत–रत्नाकर, संगीतोपनिषत्सारोद्धार आदि जिसके अनुसार पटह के दो प्रकार बताए है– 1:देशी पटह 2:मार्गी पटह।

3:1:11:2:5 झल्लरी– भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में अवनद्ध वाद्यों की संख्या सौ बतलायी है। इन सौ वाद्यों को उन्होनें दो भागों में विभाजित किया है। एक अंग दूसरा प्रत्यंग। अंग वाद्य को स्वरों में मिलाया जाता था तथा प्रत्यंग वाद्यों में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं थी और झल्लरी को नाट्यशास्त्र में प्रत्यंग वाद्य की श्रेणी में रखा है। जिससे यह प्रतीत होता है कि झल्लरी वाद्य को स्वर में नहीं मिलाया जाता था। नाट्यशास्त्र में झल्लरी का भी सम्पूर्ण विवेचन नहीं मिलता है।

स्यात्तदद्यपलो भाणः परिधौ द्वादशांगुलः।
अन्यतु झल्लरीलक्ष्म तस्य श्रीशाड्गिणोदितम्।।(2)

संगीत रत्नाकर में झल्लरी का एक छोटा रूप प्रचार में आया जिसे भाण कहते है। इस तरह से संगीत रत्नाकर में भी झल्लरी का वर्णन प्राप्त होता है। संगीतोपनिषत्सारोद्धार के लेखक सुधाकलश ने झल्लरी को घन वाद्य की श्रेणी में माना है। उन्होनें झल्लरी को स्पष्ट करते हुए कहा है कि–''**झल्लरी स्थालरूपिणी**''। इसी प्रकार 1320 ई0 में रचित ग्रन्थ संगीतसार के लेखक पं0 विद्यारण ने झल्लरी को चमड़े से मढ़ा अवनद्ध वाद्य कहा है। तथा इसका वादन बाएं हाथ के अंगुठें में लटकाकर दाहिनें हाथ से आघात करके ध्वनि उत्पन्न की जाती है।(3) संगीत पारिजात में झल्लरी को चक्रवाद्य अथवा करचक्र की संज्ञा दी गई है तथा अधुनिक युग में इन्हीं वाद्यों को खंजरी, दायरा, चंग आदि नामों से जाना जाता है। उत्तर प्रदेश में लोक गीत गाने वाले गायकों का चक्राकार वाद्य मोटे चमड़ें से मढ़ा हुआ होता है। इसका व्यास 18 से 22 अंगुल तक का होता है। उत्तर प्रदेश में इसे चंग या ड़फ़ली भी बोला जाता है। इसमें कहरवा, दादरा के बोल बड़े अच्छें ढ़ंग से बजाए जाते है। अहोबल के द्वारा बताए गए वाद्य चक्रवाय दक्षिण भारत में गंजीरा वाद्य के नाम से प्रसिद्ध है। उत्तर भारत में इसे

---

(1) मिश्र, मणि लाल / भारतीय संगीत वाद्य / अध्याय–अवनद्ध वाद्याध्याय / पृ0–79
(2) चौधरी, सुभद्रा(अनुवाद) / शारंगदेव / संगीत रत्नाकर / श्लोक–1139 / वाद्याध्याय
(3) मिश्र, मणि लाल / भारतीय संगीत वाद्य / अध्याय–अवनद्ध वाद्याध्याय / पृ0–69

खंजरी, दायरा, चंग आदि नामों से जाना जाता है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय के अर्न्तगत ताल वाद्यों के विषय में चर्चा प्राप्त होती है। साथ ही उनकी वादन विधि, आकार प्रकार व निर्माण विधि के विषय में भी वर्णित किया गया है।

3:1:12 भूमिका विकल्पाध्याय

यह नाट्यशास्त्र का पैंतिसवाँ अध्याय है। जिसके अर्न्तगत पात्र की भूमिका संबन्धित विधानों का वर्णन किया गया है। शोधार्थी द्वारा इस अध्याय में वर्णित ताल शास्त्र सम्बधिंत वर्णन को प्रस्तुत किया गया है, जो इस प्रकार है।

अनुद्भटमसम्भ्रान्तमनाविद्धाङ्गचेश्टितम् ॥
लय–ताल–कलोपेतं प्रमाणनियताक्षरम् ॥51 ॥(1)

अर्थात्– प्रस्तुत श्लोक के अंतर्गत कहा गया है, कि पात्र को लय, ताल तथा कला का ज्ञान हो और उसका शब्दों के उच्चारण का ज्ञान पूर्णतः दृष्टिगोचर होता है। उसे स्त्री पात्रों के द्वारा प्रस्तुत कराया जाना चाहिए। इस अध्याय के 65वें श्लोक के पश्चात् भी सूत्रधार या निर्देशक के लक्षणों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि–

तत्र सूत्रधारगुणान् वक्ष्यामः॥ अस्यादित एव तावल्लक्षणज्ञता
अभिमतवाक् संस्कारस्तालविधानज्ञता स्वरवादित्रत्तववेदनञ्च ॥(2)

अर्थात्– प्रस्तुत श्लोक के अंतर्गत भरत मुनि द्वारा सूत्रधार के गुणों और लक्षणों को कहा गया है और बतलाते हुए कहते है कि नाट्य उपयोगी समस्त उपकरणों का ज्ञान, संभाषण तथा संवाद के संस्कारों से परिपूर्ण, ताल विधान स्वर तथा वाद्यों के सिद्धांतों से पूर्णतः परिचित होने वाला व्यक्तित्व ही नाट्य के निर्देशक कहा जाता है।

चतुरातोद्यकुषलः नानाकर्मसु षिक्षितः ॥
नानापाषण्डकार्यको नीतिषास्त्रार्थत्तववित् ॥66 ॥(3)

अर्थात्– प्रस्तुत श्लोक के अंतर्गत चार प्रकार के वाद्यों कि चर्चा प्राप्त होती है, जिनके वादन में निपूर्ण होने के गुण का वर्णन नाट्य के सूत्रधार का एक आवश्यक गुण माना गया है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय के अंतर्गत ताल विधान तथा वाद्य के विषय में चर्चा प्राप्त होती

---

(1)शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–35 / श्लोक–51
(2)शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–35 / श्लोक–65
(3)शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–35 / श्लोक–66

है। शोधार्थी नाट्यशास्त्र के समस्त अध्यायों का अध्ययन करने के पश्चात् तथा उसमें ताल का अध्ययन करने के बाद निष्कर्ष प्राप्त होता है कि मंगलाचरण, प्रेक्षगृह के लक्षण, रंग देवताओं की पूजा, अमृतमंथन, पूर्वरंग विधान, चारीविधान, गतिप्रचार, कक्ष्यापरिधि तथा लोकधर्मी निरुपण, आतोद्यविधान, ध्रुवाविधान, अवनद्धातोद्य विधानाध्याय भूमिका विकल्पाध्याय में ताल के शास्त्रीय पक्ष सम्बन्धित जानकारी प्राप्त होती है। जिससे ताल के महत्व को बताने का एक विन्रम प्रयास किया गया है। साथ ही जिन अध्यायों में ताल के विषय में कोई चर्चा नहीं की गई उनकों भी वर्णित किया गया है जो कि इस प्रकार है– रसशास्त्र, भावाध्याय, उपांगाभिनय, हस्ताभिनय, शरीराभिनय, मंडलविधान, वाचिकाभिनय, वृत्तिविधान, काव्यलक्षणादि, भाषाविधान, सम्बोधन तथा काकुस्वरव्यंजन, दशरुपनिरुपण, सन्धिसन्ध्यग्डनिरुपण, वृत्तिविधान, आहार्य अभिनयाध्याय, सामान्य अभिनयाध्याय, वैषिकोपचार, चित्राभिनयाध्याय, प्रकृतिविचाराध्याय, त्तातोद्यविधान, सुषिर–आतोद्य विधानाध्याय में ताल शास्त्र तथा ताल वाद्यों की कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती है।

इसी प्रकार नाट्य सिद्धि निरुपण अध्याय के अंतर्गत ताल तथा ताल वाद्य के विषय मे कोई भी विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती है, परंतु कुछ स्थानों पर मात्र वाद्य शब्द के प्रयोग को देख सकते है, जैसे कि श्लोक 47 अभिनेता को गीत, वाद्य के प्रति रुचि की बात करता है तथा श्लोक 79 वाद्य शब्द का प्रयोग पुनः गीत के साथ किया गया है, कि नाट्य निर्देशक को रस गीत, वाद्य के विज्ञान को भली भांति समझना चाहिए या इस प्रकर वाद्य शब्द का प्रयोग देखने को मिलता है। वाद्य शब्द भी अपने आप में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है, क्योंकि वाद्य के अंतर्गत अवनद्ध वाद्यों का भी स्थान है, जो इस शब्द कि महत्वता को दर्शाता है कि नाट्यावतार अध्याय में ताल तथा ताल वाद्य के विषय में कोई विशेष तथ्य प्राप्त नहीं होते है, परंतु प्रस्तुत अध्याय के श्लोक 23 से 28 के मध्य कई बार वाद्य शब्द का प्रयोग देखने को मिलता है, जिससे ज्ञात होता है, कि इस वाद्य शब्द के अंतर्गत अवनद्ध वाद्यों कि भी चर्चा की गई है तथा श्लोक 28 के अंतर्गत वृंदवादन शब्द का प्रयोग देखने को मिलता है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि यहाँ अवनद्ध वाद्य का प्रयोग अवश्य ही हुआ होगा। तालविधानाध्याय प्रस्तुत अध्याय पूर्ण रूप से ताल को समर्पित है, जिसे इस शोध प्रबंध के अंतर्गत ही सम्पूर्ण श्लोकों को उनके (अनुवाद) के साथ शोधार्थी द्वारा रखने का विनम्र प्रयास किया गया है।

3:2 नाट्याशास्त्र में तालाध्याय

नाट्याशास्त्र के तालाध्याय को लिखने से पूर्व शोधार्थी द्वारा नाट्याशास्त्र के उपलब्ध समस्त हिन्दी (अनुवाद)ों के संस्करणों का अध्याय किया गया है और साथ ही Oriental Institute of Baroda द्वारा प्रकाशित नाट्याशास्त्र की मुख्य टीका अभिनव भारती जो कि अभिनव गुप्त द्वारा रचित है। उसका भी अध्ययन किया गया है। सभी के अध्ययन के पश्चात् यह ज्ञात होता है कि बाबू लाल शुक्ल शास्त्री द्वारा लिखे गए, नाट्याशास्त्र के हिन्दी (अनुवाद) में 36 अध्याय प्राप्त होते है और इस संस्करण में 31वाँ अध्याय में तालाध्याय का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार पारसनाथ द्विवेदी के हिन्दी (अनुवाद) में 27 अध्याय ही प्राप्त होते है, जिसमें उन्होनें संगीत संबंधी अध्यायों का वर्णन नहीं किया है। प्रस्तुत नाट्याशास्त्र के तालाध्याय के अर्न्तगत के समस्त श्लोकों की व्याख्या को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। जिसका आधार मुख्य रूप से बाबूलाल शुक्ल शास्त्री तथा ब्रजवल्लभ मिश्र द्वारा वर्णित श्लोकों को इस अध्याय में प्रस्तूत किया गया है जिसका मुख्य कारण उनका सरल तथा स्पष्ट व्याख्यान है।

तालो घन इति प्रोक्ताः कला–पात–लयान्वितः॥
कलास्तस्य प्रमाणं वै विज्ञेयं ताल्योक्तृभिः॥1॥

अर्थात्– कला, पात तथा लय से परिपूर्ण, जो काल का खंड या परिमाणगत प्रवान जो घन वाद्य की श्रेणी में आता है, ताल कहलाता है। संगीत के प्रयोग के समय जब ताल की प्रकृ ति होती है, उस समय ताल मापने की क्रिया को कला कहा गया है और उस समय का अर्थ भी ताल का प्रदर्शक काल होता है।

या लौकिकी कला काष्ठा निमेषष्च स्मृता बुधैः॥
न सा तालकला ज्ञेया ह्यन्यैषा तालगाः कला॥2॥

अर्थात्– विद्वानों द्वारा कला, काष्ठ, निमेश या पल के प्रयोग को लोक संबंध के व्यवहार में बताया गया हैं। उस समय के जो भी साक्ष्य प्राप्त होते हैं, उसके अनुसार निमेष आदि को कला या ताल नहीं समझना चाहिए, क्योंकि ताल मे प्रयुक्त होने वाली कला इनसे पूर्ण रूप से भिन्न हैं।

निमषाः पञ्च मात्रा स्यान्मात्रायोगात् कलाः स्मृताः॥
निमेषा पञ्च विज्ञेया गीतकाले कलान्तरम्॥
ततः कला–कालकृतो लय इत्यभिसंज्ञितः॥3॥

अर्थात्– पाँच निमेष के बराबर के समय की गानकाल में एक मात्रा का निर्माण होता है तथा मात्राओं के संयोग द्वारा 'कला' का प्रादुर्भाव होता है। पाँच निमेष का समय गानकाल में मध्य का समास या दो कलाओं के मध्य का समय माना जाता है, और फिर से कला और मात्राओं के काल के अनुसार 'लय' का विधान किया जाता है।

त्रयो लयास्तु विज्ञेया द्रुत–मध्य–विलम्बिताः ॥
यस्तत्र तु लयो मध्यस्तत्प्रमाणकला स्मृता ॥4 ॥

अर्थात्– लय के तीन भेंद **अर्थात्** प्रकार हैं– 1. द्रुत 2. मध्य 3. विलंबित। इनमें से जो मध्य लय हैं, उसके अनुसार 'कला' का साक्ष्य ज्ञात होता है, **अर्थात्** मध्य लय प्रमाण कला को दृढ़ या असंदिग्ध निर्णीत करती है।

त्रिविधा सा च विज्ञेया त्रिमार्गनियता बुधैः ॥
चित्रे द्विमात्रा कर्त्तव्या वृत्तौ सा द्विगुणा स्मृता ॥5॥

चतुर्गुणा दक्षिणे स्यादित्येवं त्रिविधा कला ॥
कला–कालप्रमाणेन ताल इत्यभिसंज्ञितः ॥6॥

अर्थात्– गुनिजनों द्वारा कला को तीन मार्गों में असंदिग्ध रूप से स्थापित किया गया है। जिसके अंतर्गत चित्र मार्ग अर्थात् दो मात्रा, वार्तिक मार्ग अर्थात् चार मात्रा, दक्षिण मार्ग अर्थात् आठ मात्रा माना जाता है, और कलाओं के समय विभाग या खंड को गीत में ताल कहा जाता हैं।

चतुरस्त्रष्च त्र्यस्त्रष्च तालो द्विविध एव हि ॥
द्विविधस्यापि तालस्य चैका प्रकृतिरिष्यते ॥7 ॥

अर्थात्– चतुरस्त्र तथा त्रयस्त्र ताल के दो प्रकार है। जिनका स्त्रोत त व्यवहार एक समान माना जाता है। चच्चत्पुट और चाचपुट को प्रकट करने वाले क्रमशः चतुस्त्र अर्थात् जिसमें चार कोणों का भाव उपस्थित होता है। त्रयस्त्र अर्थात् जिसमें तीन कोणों का भाव उपस्थित होता है।

तथा योनिद्वयं चास्य कीर्तियमानं निबोधत ॥
चच्चत्पुटस्तु विज्ञेयो तथा चापपुटोऽपि च ॥8॥

अर्थात्– इस श्लोक के अंतर्गत भरतमुनि द्वारा द्वि–गुणित प्रक्रित के विषय मे चर्चा की गई हैं। जिसमें स्त्रोनातोमयी भूमि उत्पत्ति को बताया गया हैं, जो की चच्चत्पुट और चाचपुट हैं।

चतुष्कलोऽथ द्विकलस्तालो यस्मात् प्रवर्तते॥
चतुरस्त्रस्तु विज्ञेयस्तालष्चच्चत्पुटो बुधैः॥9॥

अर्थात्– प्रस्तुत श्लोक के अंतर्गत चतुष्कल एवं द्विकल ताल के विषय में चर्चा की गई हैं, कि चच्चत्पुट और चाचपुट इन दो तालों मे से किसी एक से चतुष्कल और द्विकल ताल की उत्पत्ति होती हैं। अतः चच्चपुट अर्थात् चतुस्त्र और चाचपुट अर्थात् त्रयस्त्र, इन दो प्रकार के तालों के तीन भेंद बताए गए हैं– यथाक्षर, द्विकल और चतुष्कल।

त्रयस्त्रष्चापपुटष्चैव गुरुलध्वक्षरान्वितः॥
प्रथमं गुरुणी कृत्वा लघु चान्त्यं प्लुतन्तथा॥10॥

अर्थात्– गुरू और लघु से युक्त होकर चच्चत्पुट और चाचपुट दो ताल बनते हैं। अतः यदि आंरभ में दो वर्ण गुरू होकर, एक वर्ण लघु और अंत में एक वर्ण प्लुत हो तो वह चच्चत्पुट ताल कहलाता है।

अक्षराणां निवेषेन स तु चच्चत्पुटस्तदा॥
आदौ गुर्वक्षरं यत्र लघुनी गुरु एव च॥11॥

अर्थात्– यदि आरंभ में गुरू बीच में दो लघु और अंत में एक गुरू हो तो वह चच्चत्पुट **अर्थात्** त्रयस्त्र ताल कहलाता है।

त्र्यस्त्रः स खलु विज्ञेयस्तालष्चापपुटो भवेत्॥
अनयोर्मिश्रभावाच्च मिश्रतालः प्ररिकीर्तितः॥12॥

अर्थात्– चच्चत्पुट और चाचपुट इन दो तालों के मिश्रण से मिश्र ताल कहा जाता है। जिसे षटपितापुत्रक या पंचपाणि भी कहा जाता है।

षटपितापुत्रकष्चौव पंचपाणिः स चेभ्यते॥
यथोक्तैरभिनिष्पन्नः स्वसंज्ञागुरुलाघवैः॥13॥

अर्थ– चच्चत्पुट और चाचपुट के योग से मिश्र ताल कहा जाता है। जिसे षटपितापुत्रक या पंचपाणि भी कहा गया है। यह लघु, गुरू के अक्षरों से अपना असत्त्ज्ञिाव रखते हैं। इसकी कलाविधि में प्रथम एक प्लुत, फिर एक लघु बाद में दो गुरू उसके पश्चात् एक लघु और अन्त में एक प्लुत होता हैं।

समासयोगात् तालोऽयं त्रिविधः परिकीर्तितः॥
सन्निपातस्ततः शम्याः तालः शम्या अथापि वा॥14॥

अर्थात्– चच्चपुट, चाचपुट और षटपितापुत्रक ताल के तीन भेद बतलाए गए हैं। जिनकी पात कला इस तरह है– सन्निपात, शम्या, ताल, शम्या या शम्या, ताल, शम्या, ताल या ताल, शम्या, ताल, शम्या। इस प्रकार एक कला के चच्चत्पुट ताल में रहने वाली पात 'कला' होती हैं।

शम्यातालौ द्विरभ्यस्तौ तालषम्ये तथैव च ॥
सन्निपातादिको ज्ञेयः शम्यादिष्च तथापरः ॥15॥

अर्थात्– बुद्धिजनों द्वारा चच्चत्पुट की रूपरेखा इस तरह बतलाई गई है, कि उसमें सन्निपात, शम्या, ताल, शम्या तथा एक कला का उपयोग हो तथा शम्या और ताल का जोड़ निरंतर चलता है।

तालादिष्च त्रिभिर्भेदैः पुनष्चत्पुटो भवेत् ॥
सन्निपातादिको नाट्ये चतुरस्त्रे भवेद्यम् ॥16॥

अर्थात्– सन्निपात, शम्या तथा ताल आदि सब चच्चत्पुट के तीन प्रकार होते है। तथा सन्निपातादि को नाट्य के चतुरस्त्र भेद रखा जाता है।

शम्यादिकस्तु विज्ञेयस्तज्ज्ञैरासारितादिषु ॥
तालादिकस्तथा प्रोक्तो विद्वद्भिः पाणिकादिषु ॥17॥

अर्थात्– शम्या का प्रयोग आसारित के रूप मे माना जाता है, तथा तालादि कि योजना में कहा गया है कि इसको पाणि अर्थात् हाथ पर ताली देकर बजाने से क्रिया मे बदलाव होता है।

चच्चत्पुटस्य ये भेदाः सन्निपातादयस्त्रयः ॥
त एव भेदा विज्ञेया बुधैष्चापपुटे पृथक् ॥18॥

अर्थात्– चच्चत्पुट मे सन्निपात आदि के तीन प्रकार दिये है। वहीं तीन भेंद चच्चत्पुट के लिए भी समझने चाहिए। चच्चत्पुट का कार्य इस तरह से होता है, कि उसके योग सन्निपात मे बना रहे, तथा चच्चत्पुट का भेद अलग से समझना चाहिए।

सन्निपातादिकस्त्वस्य बलवानितरेऽपि च ॥
षट्कलोऽष्टकलष्चैव तालो ह्यस्मात् प्रवर्तते ॥19॥

अर्थात्– क्योंकि चाचपुट मे छः कला तथा आठ कलाओं का सन्निपात होता है, परंतु इसमें सन्निपात आदि दोनों भेंद भी बलवान होते है, लेकिन सन्निपात अधिक सफल होता है।

शम्या तालप्रवेषेन त्र्यस्त्रऽन्योऽपि विधीयते॥
षट्पितापुत्रककृतः पञ्चपाणिरुदाहृतः॥20॥

अर्थात्– शम्या, ताल तथा प्रवेश हो जाने पर चाचपुट ताल (त्र्यस्त्र) के कई अन्य भेदों **अर्थात्** रूपों का विस्तार (विकास) होता हैं। भरतमुनि ने उसे षटपितापुत्रक कहा है, जिसका एक अन्य नाम पंचपाणि कहा है।

आद्यं प्लुतं द्वितीयन्तु लघु यथाक्षरं भवेत्॥
तृतीयञ्च चतुर्थष्च गुरुणी पञ्चमं लघु॥21॥

अर्थात्–षटपिता पुत्रक की ताल कला बताते हुए कहा है, कि जिनमें प्रथम अक्षर प्लुत हो, दूसरा वर्ण लघु, तीसरा और चौथा गुरु, पंचवा लघु हो तथा छठा और अंतिम वर्ण पूर्णा लघु हो।

प्लुतान्तः षट्पितापुत्रो गुरुलाघवसंयुतः॥
पञ्चपाणिः स विज्ञेयः षट्पातस्तु षडक्षरः॥22॥

अर्थात्– इस तरह के लघु, गुरु वर्णों से युक्त पातकला षटपितापुत्रक के कहलाता है, तथा गुरु, लघु ये छह पात **अर्थात्** पिता पुत्रों से संयुक्त होने से पंचपाणि भी कहलाता है।

सन्निपातस्तस्तालः शम्या तालस्तथैव च॥
शम्या चैव हि तालष्च षट्पातस्तस्य कीर्तितः॥23॥

अर्थात्– षटपितापुत्रक में पात कलाओं का वर्णन किया है, उन पात कला की संख्या छह है, वो इस प्रकार है– सन्निपात, ताल, शम्या, ताल, शम्या तथा ताल।

तालादिज्यसभेदोऽन्यः सम्पर्केष्टाकसंज्ञितः॥
गुरुपञ्चाक्षराद्यन्त्यप्लुतमात्रासमन्वितः॥
सन्निपातस्तः शम्या तालषम्यैकतालकः॥24॥

अर्थात्– तालादि मे त्र्यस्त्र एक और अन्य प्रकार हो जाता है जिसे सम्पकेष्टका कहा गया है। इसे मध्य मे पाँच वर्ण गुरु होते है तथा प्रथम और अंत मे प्लुत वर्ण होते है। जिसकी पातकला (ताल क्रिया) का वर्णन इस प्रकार है– ताल, शम्या, ताल, शम्या और ताल।

त्र्यस्त्रं सर्वगुरुं कृत्वा निष्कामं तत्र योजयेत्॥
शम्याद्वयं त्तस्त्वेष उद्घट्टः कथितो बुधैः॥25॥

अर्थात्– त्र्यस्त्र मे जब सभी वर्ण गुरु (तीन वर्ण) हो और उसकी कला मे निष्काम पद्धति जाती हो और उसे दो शम्य विभाग को मेल हो अर्थात् निष्काम, शम्या, शम्या। इस प्रकार हो उसे उद्घट्ट कहा जाएगा।

एवमेककलो ज्ञेयः शुद्धष्चच्चत्पुटादिकः॥
यथाक्षरोऽथ द्विकलस्तथा चैव चतुष्कलः॥26॥

अर्थात्– शुद्ध चच्चत्पुत ताल एक कला का होता है और इस प्रकार तीन प्रकार होते है–**1)** यथाक्षर **2)**द्विकल **3)** चतुष्कल। यह तीनों अपने स्थान से पूर्व दुगुने गौण से बनाए जाते है।

त्रयो भेदा हि तालस्य द्विगुणा द्विगुणाः स्मृताः॥
चतुरनस्त्रिभिभैदैस्तालस्तु परिकीर्तितः॥27॥

अर्थात्–चतुरस्त्र ताल के भी तीन प्रकार होते है, जो चार आठ तथा सोलह कला का होता है।

चतुष्कलो ह्यष्टकलः कलाशोडषकः पुनः॥
त्र्यस्त्रतालस्तु षटभेदस्त्रिकलः षटकलस्तथा॥28॥

कलाद्वादषकोऽपि स्याञ्चतुर्विषतिकस्तथा॥
कलाष्टचत्वारिंषत्कं कला षण्णवतिस्तथा॥29॥

अर्थात्– त्र्यस्त्र ताल के छह विशेष प्रकार होते है। इनमें त्र्यस्त्र कला को तीन कला का माना है और आगे के सभी प्रकार को 2 से गुणा करके क्रमानुसार इस प्रकार तीन (त्रिकाल), छः(षटकला), बारह (द्वादषकला), अड़तालीस(अड़तालीस कला), छियानबे (छानबेकला)। इस प्रकार हुआ करती है, इस तरह त्र्यस्त्र ताल के नौ प्रकार होते है। तीन प्रकार चाचपुट–1) यथाक्षर, द्विकला, चतुष्कला तथा छः प्रकार त्रिकला, षट्कला आदि बनते है।

तालो नवविधष्चायमयुग्मः सम्प्रकीर्तितः॥
द्विप्रकारस्त्वयं तालो निःषब्दः शद्ववाँस्तथा॥30॥

अर्थात्– सामान्यता ताल के दो भेद या खंड बताए हैं– सशब्द तथा निःशब्द ताल।

प्रयोगं द्विविधं चास्य कीयमानं निबोधत॥
तत्रावापोऽथ निष्कामो विक्षेपष्च प्रवेषकः॥31॥

अर्थात्– इस तरह से दो भेदों को प्रत्यक्ष रूप से सिद्ध करने कि क्रिया से निःशब्द क्रिया के चार विभाग बन जाते जिसके अंतर्गत सर्वप्रथम आवाप, निष्क्राम, विक्षेप तथा अंत मेन प्रवेशक

इस चारों भेंदों मे ध्वनि उत्पन्न नहीं की जाती अर्थात् इस वर्तमान समय मे खाली दर्शने कि क्रिया के समान होता है।

चतुर्विकल्प इत्येवं निःषब्दः परिकीर्तितः॥
शम्या तालो ध्रुवष्चेति सन्निपातस्तथा परः॥32॥

अर्थात्– शम्या, ताल ध्रुवा और सन्निपात, इस तरह से सशब्द क्रिया के भी चार भेद होते है। ये चार विभेद शब्द युक्त होते है। वर्तमान समय में जिस प्रकार ताल मे (खाली तथा भरी) में भरी समान होती है।

इति शब्देन संयुक्तो विज्ञेयष्च चतुर्विधः॥
एतेषामथ वक्ष्यामि हस्ताङ्गुलिविकल्पनम्॥33॥

अर्थात्– इस श्लोक मे भरत मुनि द्वारा लक्षण और प्रमाण हस्त क्रिया का वर्णन किया गया है।

लक्षणञ्च प्रमाणञ्च यथावदनुपूर्वषः॥
ऊर्ध्वागुलिसमाक्षेप आवाप इति संज्ञितः॥34

अर्थात्– आवाप में हथली को ऊपर आकाश तरफ उठाकर अंगुलियों को बंद करना तथा खोलने कि क्रिया आवाप कहलाती है। निष्क्राम हथेली को पलटकर नीचे की ओर हाथ की अंगुलियों को फेलाना अर्थात् आवाप की विपरीत क्रिया निष्क्राम कहलाती है।

निष्कामोऽधोगतस्य स्यादङ्गुलीनां प्रसारणम्॥
तस्य दक्षिणतः क्षेपो विक्षेपः परिकीर्तितः॥35॥

अर्थात्– हाथ को दाहिनी ओर झटका देना, विक्षेप क्रिया के अंतर्गत आता है। अंगुलियों को सिकोड़ते हुए हाथ को पुनः अपनी दशा मे वापस लौटना प्रवेशक कहलाता है।

निवर्तनष्च हस्तस्य प्रवेषोऽधोमुखस्य च॥
कृत्वाङ्गलीनामाक्षेपं निष्कामञ्च भवेदथ॥36॥

अर्थात्– अंगुलियों द्वारा दिखाये जाने की क्रिया आवाप के पश्चात निष्क्राम और बाद विक्षेप तथा अंत मे प्रवेषक की क्रिया होती है।

विक्षेपञ्च पुनः कार्यः पुनष्चैव प्रवेषनम्॥
यदा चतुष्कलो योगस्तदा त्वेष विधिर्भवेत्॥37॥

निष्कामष्च प्रवेषष्च द्विकलै परिकीर्तितौ॥
एषामन्तरपातास्तु पातसंज्ञाः प्रकीर्तिताः॥38॥

अर्थात्– इस क्रम को चतुष्कल के अंतर्गत रखा जाता है और निष्क्राम तथा विक्षेप क्रिया को दो कला **अर्थात्** द्विकल मे रखा जाता है। इनके बीच के समय मे होने वाली क्रिया **अर्थात्** ताली बजाने के समय को पात कहा जाता है।

शम्या दक्षिणहस्तस्य तालः पातस्तु वामतः॥
हस्तयोस्तु समः पातः सन्निपात इति स्मृतः॥39॥

अर्थात्– दायें हाथ से बाएँ हाथ पर ताली देकर, ताल दिखाने को शम्या कहते है और बांए हाथ से दाहिने हाथ से ताली देना ताल कहलाता है तथा दोनों हाथों को परस्पर एक साथ ताल देकर ताल दर्शाने की क्रिया सन्निपात कहलाता है। संगीत मे इन्हें पात कला कहा गया है।

ध्रुवस्तु मात्रिकः पातः रागमार्गप्रयोजकः॥
कला यास्त्रिविधाः प्रोक्ताः तासां पातो ध्रुवः स्मृतः॥40॥

अर्थात्– किसी एक मात्रा पर रुकने के लिए किया जाने वाला आघात (पात) ध्रुव कहा जाता है और यह रागों के मार्ग का निर्माण करता है। यह तीन कलाओं का एक साथ निपात होता है अर्थात् हाथ को नीचे ले जाना ध्रुव कहा जाता है।

यथाक्षरस्य तालस्य स तु गुर्वक्षरो भवेत्॥
यथाक्षरकृतैः पातैस्तालो ज्ञेयो यथास्थितः॥41॥

अर्थात्– यथाक्षर ताल मे ध्रुव का प्रयोग गुरु अक्षरों के साथ होता है अर्थात् जिस जगह यथाक्षर ताल का प्रयोग हो, वह गुरु अक्षर कहलाता है अर्थात् जब ताल के स्थान पर प्रयोग किए जाने वाले अक्षरों का सामान्य रूप पर आघात (पात) होने पर यथाक्षर कहलाता है।

गुर्वक्षरैष्च विष्लिष्टैः स एव द्विकलो भवेत्॥
द्विर्भावो द्विकलस्यैव विज्ञेयस्तु चतुष्कलः॥42॥

अर्थात्– दो गुरु अक्षरों से संयुक्त होने वाले यथाक्षर को दुकल कहा जाता है तथा उससे दुगुन तथा दोहरे अक्षरों से युक्त होने पर चतुष्कल कहा जाता है।

यथाक्षरकृताः पाताः सर्वैरेव प्रकीर्तिताः ॥
चष्चत्पुटस्य विज्ञेयास्तथा चापपुटस्य च ॥43 ॥

अर्थात्– इस श्लोक मे भरत मुनि कहते है, कि इस प्रकार यथाक्षर ताल के बीच होने वाले सभी पातों या आघातो का उल्लेख किया है तथा इस तरह से इन अक्षरों से होने वाले पात तथा इन अक्षरों के आधार पर यथाक्षर ताल का स्वरूप चच्चत्पुत, चाचपुट, तथा पंचपाणि ये तीन भेद (प्रकार) बन जाते है।

पञ्चपाणेष्च विहिताः भेदा ह्येते त्रयः स्मृताः ॥
व्युदस्य युग्ममोज ये पञ्च ताला भवन्ति हि ॥44 ॥

अर्थात्– यह युग्म का मतलब चतुरस्त्र तथा ओज का अर्थ त्र्यस्त्र से है। इन दोनों ताल के अतिरिक्त तालों के पाँच विभेद होते है, जिन्हें उद्घट्टक कहा जाता है तथा यह दोनों तालों का मिश्रण अर्थात् चतुस्त्र तथा त्र्यस्त्र का मिश्रण होकर गीतों के विभिन्न अंगों में मिश्रत होने पर उद्घट्टक कहलाते है।

मिश्रा गीताङ्गसंयुक्ता ज्ञेया ह्युघट्टकादयः ॥
कलाः पञ्च तथा सप्त पुर्न्नव च कीर्तिताः ॥45 ॥

अर्थात्– पाँच, सात, नौ, दस, या ग्यारह कलाओं का ताल में प्रयोग होने पर यह संक्रिण ताल भी कहलाता है अर्थात् मिश्र ताल के पाँच, सात, नौ दस कलाओं के भेद होने पर जब ताल मे प्रयोग होता है। इस प्रकर का प्रयोग होने पर इसे संक्रिण ताल भी कहते है।

दष चौकादषै ते च सङ्कीर्णाः समुदाहृताः ॥
न ह्येषामुपयोगोऽस्ति' सप्तरूपे ध्रुवास्वपि ॥46॥

अर्थात्– इनका सप्तरूपों कि ध्रुवाओं मे प्रयोग नहीं किया जाता था। ये ध्रुवाएं नाटक के समय प्रयोग की जाती थी। जिन्हें उस समय गीत का एक प्रकार भी कहा जाता था **अर्थात्** जो मिश्रित ताल है। उनका प्रयोग इन सप्तगीतों मे नहीं होता था। केवल गायक द्वारा किसी विशेष कार्य में प्रयोग किया जाता था।

प्रवृत्तादिषु कर्त्तव्या एते गानप्रयोक्तृभिः ॥
त्र्यस्त्रष्च चतुरस्त्रष्च षट्कलोऽष्टकलस्तथा ॥47 ॥

अर्थात्– इस श्लोक में भरत मुनि ने कहा है, कि जो ध्रुवाओं मे चतुरस्त्र तथा त्र्यस्त्र ताल के षटकल तथा अष्टकल दो भेद होते है। उनके लक्षण बोधक सिद्धान्त के बारे में बतलाने की बात की है।

ध्रुवाणान्तु भवेत् तालं सम्प्रवक्ष्यामि त्तवतः ॥
कनिष्ठाङ्गुलिनिष्कामो शम्या चैव त्तो भवेत् ॥48 ॥

अर्थात्– चतुरस्त्र ताल में अंगुलियों द्वारा कलाओं को दर्शाने की विधि इस प्रकार की कनिष्ठिका अंगुली से निष्क्राम और शम्या,कनिष्ठका तथा अनामिका से निष्क्राम, ताल और शम्या।

कनिष्ठिकानामिकाभ्यां तु निष्कामोऽतो विधीयते ॥
त्तस्तालस्तु कर्त्तव्यः शम्या चैव तु पञ्चमी ॥49 ॥

प्रवेषो मध्यमाङ्गष्ठे कर्त्तव्यस्तर्जनीकृतः ॥
निष्क्रामः सन्निपातोऽन्त्ये नित्यमष्टकलो भवेत् ॥50 ॥
एवं युग्मे कलापातविकल्पोऽङ्गुलिभिः कृतः ॥

अर्थात्– मध्यमा अंगुली द्वारा प्रवेश और अंगूठे से निष्क्राम तथा सन्निपात को दिखलाना चाहिए। अष्टकल ताल में अर्थात् युग्म ताल (चतुरस्त्र) को अंगुली द्वारा कलाओं को दिखलाने की यही विधि है।

कनिष्ठाङ्गुलिनिष्क्रामः प्रथमे तु कला भवेत् ॥51 ॥
शम्यापातो द्वितीया तु तृतीया ताल एव च ॥

शम्या तत्र चतुर्थी तु पञ्चमी तर्जनीकमात् ॥52 ॥
षष्ठष्च सन्निपातः स्यादेष वै षटकलो विधिः ॥
एष त्र्यस्त्रे कलापातविकल्पोऽङ्गुलिभिः कृतः ॥53 ॥

अर्थात्–अष्टकल ताल की कला विधि को दिखलाने के लिए इस प्रकार है, कि प्रथम कला के लिये कनिष्ठा का अंगुली के मध्यमा से निष्क्राम द्वितीय अंगुली मे शम्या तीसरी के द्वारा ताल चौथी से शम्या और पाँचवी कला मे तर्जनी अंगुली द्वारा शम्या और सन्निपात को दर्शाया जाता है। अंगुलियों के द्वारा त्र्यस्त्र ताल की कलाओं को दिखलाने का यही माध्यम है।

कनिष्ठालिनिष्क्रामः प्रवेषष्च तथा भवेत् ॥
कनिष्ठानामिकास्थाने त्तस्तालस्तृतीयकः ॥54 ॥

शम्यापातष्चतुर्थी तुनिष्कामो मध्यमाकृतः ॥
षष्ठस्तालस्त्तो ज्ञेयो निष्क्रामस्तर्जनीकृतः ॥55 ॥

शम्याष्टमी त्तस्तालो नवमी तु कला स्मृता॥
कनिष्ठिका प्रवेषस्तु दषमी तु कला भवेत्॥56॥

निष्क्रामष्चैव तर्जन्या तदन्नतरमिष्यते॥
सन्निपातस्तथान्ते च कलाद्वादषकं भवेत्॥57॥

अर्थात्– द्वादशकल अर्थात् बारह कलाओं के तालों की वादन विधि का स्वरूप इस प्रकार माना जाता है, कि कनिष्ठका अंगुली द्वारा निष्क्राम और प्रवेश उसके बाद कनिष्ठका तथा अनामिका अंगुली द्वारा ताल और शम्या मध्यमा अंगुली से निष्क्राम और ताल तर्जनी से निष्क्राम शम्या तथा ताल, जो आठवीं और नौवीं कला है। त्तपश्चात् कनिष्ठका से प्रवेश जो दसवीं कला है और फिर तर्जनी से निष्क्राम को दर्शाया जाता है तथा अंत मे बहरवी कला तथा अंतिम कला सन्निपात होती है।

एष त्वावापविक्षेपव्यवधानैन पण्डितैः॥
विधिष्चतुष्कलो ज्ञेयः प्रागुक्ताङ्गुलिभिः कृतः॥58॥

अर्थात्– चतुष्कल ताल में जो चार कलाओं के अंतर्गत, जो अंगूठे और अंगुलियों से परिपूर्ण होने वाली क्रिया विधि, जो आवाप आ ओर विक्षप के विषय मे बतलाई है अर्थात् जो आवाप और विक्षेप जो अंगुलियों से प्रदर्शित किया जाता है, यही विधि है।

द्विकलष्चतुष्कलष्च पादभागः प्रकीर्तितः॥
चत्वारः पादभागाष्च मात्रेति परिभाष्यते॥59॥

अर्थात्– दो तथा चार कलाओं से होने वाला, पाद भाग का वर्णन कर चुका हूँ। इन चार पाद भागों को परिभाषिक रूप को मात्रा कहा गया है।

चञ्चत्पुटस्य तालस्य तथा चापपुटस्य च॥
पञ्चपाणेष्च विज्ञेया भेदा ह्येते पृथक् पृथक्॥60॥

अर्थात्– इस तरह से चच्चत्पुट, चाचपुट, तथा पंचपाणि तालों के भीतरी सबके लक्षणों के अवलंब से अलग–अलग तालों के भेद होते है।

एवमेष मया तालः समासात् परिकीर्तितः॥
आसारिते वर्धमाने गीताङ्गेषु च यः स्मृतः॥61॥

अर्थात्– इस विवेच्छ मे आसारित वर्धमान तथा अन्य वर्धमान गीतों के कला के आश्रय पर ताल के व्यवहार से हुआ करते है। इन सभी गीतों के अंगों मे उपस्थित रहने वाले तालो का वर्णन संक्षेप मे दिया गया है।

अथासारितकानान्तु सम्प्रवक्ष्यामि लक्षणम् ॥
भेदष्वष्च्तपुटस्यादौ तथा गुरुलघुप्लुतैः ॥62 ॥

अर्थात्– इस श्लोक ने भरत मुनि द्वारा कहा गया है, कि अब मैं आपको आसारित गीतों के प्रकारों के विषय मे बतलाता हूँ तथा उनके लक्षणों को आपसे कहता हूँ। इस में सर्वप्रथम नाटककार को चच्चत्पुट के भीतरी ताल क्रिया के गुरु, लघु तथा प्लुत अक्षरों से संयुक्त विषेशता को लेना चाहिए और इसके पश्चात पंचपाणि के दो प्रकारों का प्रयोग करके, पात क्रिया का विनियोग तथा पंचपाणि की, तो बार आवृति को करके सम्पन्न करना चाहिए।

पञ्चपाणिं त्तः कुर्याद् द्विरभ्यस्तं प्रयोगवित् ॥
यथाक्षरन्तु पूर्वत्र यथावद् विनिवेषयेत् ॥63 ॥

अर्थात्– इस विधान के अनुरूप प्रथम भाग में यथाक्षर **अर्थात्** चच्चत्पुट ताल को रखे। इस रचना (व्यवहार) मे पहले शम्या तथा ताल की पात क्रिया होनी चाहिए, अपने अनुसार रखे गए, अक्षरों के नाम वाले ताल के आधार पर, फिर उसके ताल या सन्निपात **अर्थात्** ताल क्रिया को करें। जो इस प्रकार होती हैं, शम्या, ताल, शम्या ताल तथा ताल।

शम्या तालः पुनष्चैव शम्या तालमथापि वा ॥
आद्येऽक्षरे सन्निपातं पञ्चपाणेष्च योजयेत् ॥64 ॥

तालं शम्याञ्च तालष्च शम्यातालौ त्तः परम् ॥
एष एव द्वितीयेऽपि पष्चपाणौ विधिः स्मृतः ॥65 ॥

अर्थात्– फिर पंचपाणि अक्षर में ताल शम्या, ताल, शम्या तथा ताल का प्रयोग करते हुए, पंचपाणि के आध अक्षर मे सन्निपात अर्थात् पंचपाणि की ताल क्रिया होनी चाहिए, और यही विधि पंचपाणि के दूसरे अक्षरों मे भी यही विधान रहता है।

प्लुतस्यान्तेऽपि तस्येष्टः सन्निपातः प्रयोक्तृभिः ॥
एवं यथाक्षरं ज्ञेयं कनिष्ठासारितं बुधैः ॥66 ॥

अर्थात्– प्लुताक्षर की अवस्था मे प्रयोग को सन्निपात का उपयोग करना अनुकूल है। यही विधान आसारित यथाक्षर में भी कही गई है।

यथाक्षरस्याक्षरैष्च तालपातान् निबोधत॥
चकारे तु भवेच्छम्या द्वितीये ताल एव च॥67॥

पुकारे तु भवेच्छम्या टकारे ताल एव च॥
एवं चञ्चत्पुटो ज्ञेयः पञ्चपाणिरतःपरम्॥68॥

अर्थात्– इस श्लोक में भरत मुनि द्वारा यथाक्षर चच्चत्पुटताल के अक्षरों को विभाजित करते हुए, ताल और पात कहा है। जिसमें 'च' चकार से शम्या निर्देषित होती है, 'चत' से ताल का संकेत है, 'पु' से शम्या और 'ट' (टकार)पर ताल निर्देषित होती है। इस प्रकार चच्चत्पुट ताल पात का निपात स्थापित करना चाहिए।

षटकारे सन्निपातः स्यात् पिकारे ताल एव च।
तकारे तु भवेच्छम्या पुकारे ताल एव च॥69॥

त्र विष्लेिकारे तु भवेच्छम्या ककारे ताल एव च॥
द्वितीयेऽप्येवमेव स्यात् सन्निपातस्त्तः परम्॥70॥

अर्थात्– षटपितापुत्रक ताल के अक्षरों को विभाजित करते हुए, षट पर सन्निपात 'पि' से ताल 'ता' से शम्या का संकेत होता है, 'पु' से ताल निर्देषित होता है, 'त्र' से शम्या तथा 'क' ककार से ताल रखा जाता है, दूसरी विधि मे भी यही क्रम रखा जाता है और अंत मे सन्निपात रहता है।

गुर्वक्षराणां विष्लेषादेवमेव तु मध्यम्॥
षतोषान्तु द्विर्भावे या कला भवेत्॥71॥

अर्थात्– इस प्रकार से यदि गुरु अक्षरों का मिश्रण कनिष्ठ आसारित मे कर दिया जाए, तो यही कनिष्ठ आसारित मध्य आसारित बन जाता है।

पातान्ते सा प्रयोक्तव्या यथावदनुपूर्वषः॥
द्विर्भावो मध्यमस्यैव ज्येष्ठमित्यभिधोयते॥72॥

अर्थात्– इसी प्रकार प्रथम विधान के अनुरूप ही इन गुरु अक्षरों को संयुक्त करने के बाद दुगुणित कला विधान को विधिवत कला करते हुए पात तथा अंत आदि प्रयोग कर्ताओ को कही हुई विधि के अनुसार ही रखना चाहिए।

मध्यमस्य विधानेम न्यसेञ्च द्विगुणाः कलाः॥
सन्निपात निपातैष्च तेषां वस्तु प्रकीर्तितम्॥73॥

अर्थात्– इस प्रकार यदि मध्य आसारित को दुगुणना कर दिया जाए, तो वह ज्येष्ठ आसारित बन जाता है, फिर उसकी कलाओं का काल मान भी मध्यम को अपेक्षा दुगुना हो जाता है और अंत में उसमें सन्निपात के निपात के विधान पर ही उसकी वस्तु का प्रकाशन होता है।

अतः परं प्रवक्ष्यामि लयान्तरितलक्षणम्॥
तालो यस्य कनिष्ठः स्यात् स लयान्तरितः स्मृतः॥
कला कालान्तरकृता केवलं तु कलान्तरम्॥74॥

अर्थात्– और इसी तरह से जब इसके लिए निश्चित समय से कला का अंतर या भेद हो जाने पर यही एक अलग कला हो जाती है।

अयमेव तालयोगो विषेषसिद्धिस्तु पूर्वनिर्दिष्टा॥
भवति हि लयान्तरिते शब्दाद् भेदी लयाच्चैव॥75॥

अर्थात्– शब्द भेद के द्वारा इन ताल या कलाओं मे लय अंतर उपस्थित हो जाने से सिद्धि विशेष होती है। जब इस प्रकार लयांतरित में शब्द और लय के कारण एक विभिन्न भेद या विशिष्ट काल या कला को इस प्रकार ताल योग का उपयोग करके पूर्व कही हुई। विधि के अनुरूप लयांतरित प्रयोग किया जाता है।

आसावितानां संयोगो वर्धमानक इष्यते॥
उत्पत्ति लक्षणञ्चास्य गदतो मे निबोधत॥76॥

अर्थात्– आसारितों के मेल या संयोग हो, वह प्रयोग वर्धमानक कहलाता है तथा इस श्लोक मे उसके उत्पत्ति तथा लक्षण बताने की बात कही है।

निहत्य दानवं घोरं रुद्रेणामित्तेजसा॥
नृत्तमुत्पादितं पूर्व चित्रं ताण्डवसंज्ञितम्॥77॥

अर्थात्– प्राचीन काल घोर दानवों अर्थात् भयंकर राक्षसों के वाद्य करने के पश्चात् असीमित तेज युक्त भगवान रुद्र एक विलक्षण मनोरंजक तथा सुंदर नृत्य की उत्पत्ति की जो तांडव कहलाया।

अथ भूतगणैः सर्वैस्तस्मिन् काले महात्मभिः॥
वर्धमानमिदं सृष्टं पिण्डीबन्धैर्विभूषितम्॥78॥

अर्थात्– उस समय महान आत्माओं वाले भूतगणों पिंडिबंधों से सुसज्जित होने वाले, इस वर्धमानक के द्वारा भगवान रुद्र की उपासना तथा वर्धमानक की सृष्टि की।

परितुष्टष्च तं दृष्टा सपत्नीको वृषध्वजः॥
प्रददौ च वरं श्रेष्ठं सह देव्या महेष्वरः॥79॥

अर्थात्– उस समय भगवान शंकर ने पार्वती के साथ उस सुंदर मनोहर मन को रमने वाले दृष्य को देखकर प्रसन्न होकर देवी पार्वती और भगवान शंकर ने उन्हे इस कार्य के लिए श्रेष्ठ वर प्रदान किया।

तल्लक्ष्यलक्षणयुतं मार्गयुक्तिविधिक्रमैः॥
वर्धमान प्रयोक्तारो याम्यन्ति षिवगोचरम्॥80॥

अर्थात्– भगवान शंकर तथा देवी पार्वती द्वारा प्रसन्न होकर भूत गणों को वरदान दिया गया कि जो इस वर्धमानक को लक्षणों से युक्त ऐसा प्रयोग करेगा। जिसमें पूरी परंपरा से विधान, क्रम और मार्ग आदि कि योजना हो अर्थात् इस विधि द्वारा वर्धमानक का प्रयोग करता हो, तो वह शिव लोक कि प्राप्ति करेगा अर्थात् शिव गोचर पद को प्राप्त करेगा।

एवमेतन्मया दृष्टं पिण्डीबन्धनिमित्ततः॥
अधुना तु प्रवक्ष्यामि लक्षणं शृणुत द्विजाः॥81॥

अर्थात्– इस श्लोक मे भरत मुनि द्वारा ऋषि मुनियों को बताते हुए कहा है, कि मैंने भी पिंडिबंधन समझने के लिए इसका अवलोकन किया है अर्थात् मैंने भी इसे देखा है, तथा हे! मुनियों मैं आपको इसके लक्षणों को आपसे कहता हूँ।

वृत्तिदक्षिणचित्रेषु मार्गेषु विनियोजितम्॥
द्विविधं वर्धमानं स्यात् स्वप्रमाणविनिर्मितम्॥82॥

अर्थात्– इस वर्धमानक को तीन मार्गों से सुनियुजीत किया गया है, वृत्ती, दक्षिण और चित्र अतः अपने विधान तथा साक्ष्य आदि के अनुरूप इस वर्धमानक के दो प्रकार होते है।

अतालञ्च सतालष्च त्तप्रमाणं द्विजा स्मृतम्॥
चतस्त्रः कण्डिकाष्चैव तावन्त्यासारितानि च॥83॥

अर्थात्– ताल रहित और ताल युक्त वर्धमानक के यह दो भेंदों का प्रमाण (साक्ष्य) या इस प्रकार से है, कि यदि वह ताल के अनुसार हो, तो सताल कहा जायेगा और यदि तालयुक्त नहीं है, तो वह अताल कहा जाता है। इस तरह से इसमें चार आसारित अपने विभागों के अनुसार चार खण्डों का भी प्रयोग किया जाता है।

ध्रवकेण कलाभिस्तु कण्डिका देवकल्पिताः॥
वर्धमानषरीरे तु क्रियते मार्गयोजना॥84॥

अर्थात्– देवताओं द्वारा ध्रुवाओं के अन्तर्गत कलाओं की देवताओं की हर एक कंडिका (खण्ड़) की कल्पना की गई है और देवताओं के अनुसार इस वर्धमानक के अंगों में मार्गों की भी विषेशता रहती है।

आद्या नवकला तु स्यादष्टाभिस्त्तपरा स्मृता॥
दष षट् च तथा चैव तृतीया कण्डिकेष्यते॥85॥

चतुर्थी कण्डिका चैव द्वात्रिंषत्कलिका स्मृता॥
कलाभिरेवं निर्दिष्टा कण्डिका वर्धमानके॥86॥
केवलं मार्गसम्भूता स्वालयोपाङ्गवर्जिताः॥

अर्थात्– वर्धमानक के अंशों में सर्वप्रथम कंडिका (विभाग स्वरूप कंडिका जिसका अर्थ भाग होता है) नौ कलाओं से युक्त किया जाता है। दूसरा भाग आठ कलाओं से निर्मित होता है, तीसरा सोलह कलाओं से तथा चौथा बत्तीस कलाओं से विभक्त होता है। इस तरह से वर्धमानक के हर एक भाग में कलाओं को क्रम अनुसार रखा गया है अर्थात् कलाओं का विशेष रूप मे विधान हुआ करता है, जो मार्ग से तथा पौन लय और उसके अंशों से ठीक तरह से हीन होकर उत्पन्न हो यहाँ मार्ग का अर्थ चित्रादि भागों से हीन तथा वह अपनी लय और उसके अंशों से मुख, प्रतिमुख अनेक विभागों से संगठित होकर उत्पन्न हो।

एक–द्वि–त्रि–चतुर्योगात् ताभिरासारितानि तु॥87॥
वर्धमाने प्रसूयन्ते मार्गतालाङ्गयोगतः॥

अर्थात्– कंडिका के एक, दो, तीन, चार, कलाओं के भाग निर्मित होते है और इन्हीं भागों से वर्धमानक की प्रकृति आसारित का निर्माण होता है। इनमें ठीक से मार्ग, अंग और ताल के योग देखे जाते है या उत्पन्न किए जाते है। यहाँ पर मार्ग से घटित होने वाले अंग को ताल के अर्थात् उसके भाग (कंडिका) आदि विभागों के मेल से घटित किया जाता है।

प्रथमा कण्डिकां कृत्वा वालतालप्रयोजिताम्॥88॥
अन्तिमार्धे कलाहीनं कुर्यादैवं कनिष्टकम्॥

अर्थात्– सबसे पहले वर्धमानक की कंडिका (वर्ग) को जो नौ कलाओं वाली है, पूरा किया जाए जिसमें ताल बहुत ही लघु या छोटे रूप मे विद्यमान रहती है। उसके पश्चात वर्धमानक

के द्वितीय कंडिका (भाग) को एक कला से कम करके अर्थात् आठ कलाओं का कर देने से कनिष्ठ आसारित हो जाता है।

द्वितीयां कण्डिकां कृत्वा सकला यदि ॥89॥
युज्यते पूर्वतालेन तदा त्त् स्याल्लयान्तरम् ॥
वर्धमानं तदा चिनैर्नहि वृत्तेन योजयेत् ॥90॥

अर्थात्– इस प्रकार उसी लय के अंतर्गत दूसरे भाग को पूर्ण करके यदि इसमें प्रथम वर्ग के पूर्व ताल मे उपस्थित सभी कलाओं को सम्मलित कर दिया जाये। जिसमें चित्रामार्ग का प्रयोग किया जाए और उसमें न ही वृत्ति मार्ग हो और न ही दक्षिण अंग का प्रयोग हो, तो यह वर्धमानक में स्थापित हो जाता है, जो सयांतरित कहलाता है।

बहिर्वा वर्धमाने वा कनिष्ठं न हि दक्षिणे ॥
द्विगुणाक्षरसंयोगादन्यमार्गनियोजनात् ॥91॥
नृतकालविशेषाच्च बालतालल्लयान्तरम् ॥

अर्थात्– जो आसारित दक्षिण मार्ग मे हो वह कनिष्ठ आसारित नहीं कहलाता, चाहे वो आसारित वर्धमानक में हो या इससे अलग। किसी गीत प्रकार मे लायान्तर मे उस संख्या या मूल अक्षरों से दुगना करते हुए, किसी अन्य मार्ग का सहारा लेते हुए या उन्हें अन्य मार्ग मे प्रयुक्त होने के योग्य होने तथा नृत्य के अंतर्गत स्थित काल सही रखने पर तथा छोटा या कनिष्ठ ताल के कारण वह लयांतरित कहलाता है।

कनिष्ठासारिते तालो यो मया परिकीर्तितः ॥92॥
स एव सर्वः कर्त्तव्यः प्रथमे कण्डिकाद्वये ॥

तृतीया स द्वितीया च प्रथमा चैव त्तकला ॥
द्विकलं योगमाश्रित्य मध्यमासारितन्तु त्त् ॥93॥

अर्थात्– भरतमुनि द्वारा इस श्लोक मे मध्यासरित के विषय मे बतलाते हुए कहा गया है, कि जो ताल में मैंने कनिष्ठ आसारित कि स्थिति मे बतलाया है, वही ताल पूरी तरह से दो वर्गों मे करना चाहिए तथा इनमें तीन, दो, एक, भाग वाले अंगों से किन्हीं दो कलाओं के मिश्रित करके प्रयोग करने पर वह मध्यमासारित हो जाता है।

चतुर्थीमादितः कृत्वा चतस्रः कण्डिका यदा ॥
चतुष्कलेन युज्यन्ते ज्येष्ठमासारितन्तु त्त् ॥94॥

अर्थात्– जब चौथी कण्ड़िका को प्रथम कण्ड़िका के स्थान पर, फिर उसमें अन्य कण्ड़िका को क्रम के अनुसार उसी प्रकार से जोड़कर प्रयुक्त किया जाए तथा इन चारों कण्ड़िकाओं में चार कलाओं को और सम्मलित कर दी जाए, तो वह ज्येष्ठ–आसारित कहलाता है।

प्रयोगस्तु यदा त्वेषां पिण्डीबन्धैर्विकल्प्यते॥
प्रत्येकत्वङ्गविन्यासस्तदा तेषां पृथक् पृथक्॥95॥

अर्थात्– जब इन आसारितों का पिण्डीबन्ध के साथ प्रयोग किया जाता है, तो इनके हर वर्ग या भाग (कण्डिका) को उनके अंगों सहित अलग–अलग प्रकार से रखा जाता है।

मुखं प्रतिमुखष्चैव देहः संहरणं तथा॥
अङ्गान्येतानि चत्वारि सर्वेष्वासरितेषु च॥96॥

अर्थात्– इन सभी आसारितों के चार अंग इस प्रकार से है– मुख, प्रतिमुख, देह तथा संहरण।

उपोहनं मुखं तेषां युग्मं प्रतिमुखं भवेत्॥
ओजःषरीर–संहारा वेवमङ्गविधिक्रमः॥97॥

अर्थात्– इन अंगों में उपोहन इनका मुख होता है, युग्म को प्रतिमुख करते है तथा ओज को देह और संहार कहा गया है। अंगों को इसी क्रम में रखा जाता है। आसारित द्वारा अपने चार वर्गों या अंगों को धारण करता है।

इत्येवं चतुरङ्गनि ज्ञेयान्यासारितस्य तु॥
चतुरासारितैर्ब्बद्धं वर्धमानकमुच्यते॥98॥

अर्थात्– और जो गीत इन चारों आसारिताओं से संयुक्त होकर निबद्ध होता है, वह वर्धमानक कहलाता है।

वर्णताल–लय–ग्रन्थवाद्याभिनय–वर्धनात्॥
पात्राणां वृद्धियोगाष्च वर्धमानकमुच्यते॥99॥

अर्थात्– अपने वर्ण, ताल, लय, वाध, ग्रन्थ अभिनय आदि के क्रमशः इन सभी पात्रों के द्वारा रचना वृद्धि के कौशल में विकास होने से इसे वर्धमानक कहा जाता है।

वर्धमानषरीरस्य भवेदाखारितस्य च॥
कार्यकारणभावेन परस्परविकल्पनम्॥100॥

अर्थात्– आसारित द्वारा ही वर्धमानक के शरीर का विकास होता है, क्योंकि इनके मध्य कार्यकारण होता है, उसमें वर्धमानक और आसारित सम्बन्ध विद्यमान रहते है।

यथा वृक्षाद् भवेब्दीजो बीजाद् वृक्षस्य सम्भवः॥
अम्योन्यहेतु–संयोगः प्रसर्तव्यस्तथैव तु॥101॥

अर्थात्– भरत मुनि ने इस श्लोक में वर्धमानक और आसारित के मध्य का सम्बन्ध बताते हुए, बीज और वृक्ष को उदाहरण सहित कहा है, कि जिस प्रकार बीज का विकास वृक्ष से होता है और वृक्ष की उत्पत्ति बीज से होती है, जो उनके मध्य एक–दूसरे के आश्रय लिए हुए है उसी प्रकार वर्धमानक और आसारित के मध्य भी सम्बन्ध यथार्थ रहता है।

योगादिककलात् सूते कनिष्ठकलयान्तरे॥
द्विकलान् मध्यमञ्चैव ज्येष्ठञ्चौव चतुष्कलात्॥102॥

अर्थात्– कनिष्ठ आसारित में एक कला के योग से लयान्तर होता है, और दो कलाओं के योग सें मध्यम तथा चार कलाओं को जोड़ देने पर वह ज्येष्ठ आसारित हो जाती है।

चञ्चत्पुटपरिवर्तः शम्यादि द्वौ च पञ्चपाणिकृतौ॥
अन्ते च सन्निपातः पातविधिरयं' कनिष्ठस्य॥103॥

अर्थात्– कनिष्ठ आसारित के सन्निपात या पात विधी की कला विधी दो शम्या की होती है, जिसका नियम इस प्रकार है– शम्या, ताल, शम्या, ताल और चच्चत्पुट के आरम्भ में दो शम्यााओं का होता है। पंचपाणि काल सन्निपात कहलाता है। शम्या के साथ प्रारम्भ होने वाले चच्चत्पुट का उदाहरण– सन्निपात, ताल, शम्या, ताल, सन्निपात, ताल, शम्या, ताल, शम्या, ताल।

अयमेव तालयोगो विषेषसिद्धिष्च पूर्वनिर्दिष्टा॥
भवतीह लयान्तरिते शद्वाद् भेदोलयाष्चैव॥104॥

अर्थात्– लयान्तरित ताल में शब्द परिवर्तन के द्वारा लय में अन्तर विद्यमान होने से सिद्धि विशेष अर्थात् जिसका लक्षण और तदानुसार संवर्द्धन के कारण इस तरह की ताल के जोड का प्रयोग करते हुए प्रथम कही हुई, विधि के अनुरूप लयान्तर किया जाता है अर्थात् लयान्तरित के अन्तर की यह विधि है, कि जिसमें शब्द और लय में परिवर्तन होता है, वह लयान्तरित है।

उत्तरकालात् कृत्वा त्वादौ तिस्त्रः कलाः परित्यज्य॥
एत्त पातविधानं मध्यमकासारिते प्रोक्तम्॥105॥

अर्थात्– यदि आसारित के उत्तरवर्ती अर्थात् बाद में वाली कलाओं को प्रारम्भिक कलाओं तथा सन्निपात का प्रयोग करते हुए, उसे आदि की तीन कलाओं को छोडकर पिछली कलाओं को आगे कर देने पर इस तरह से प्रयोग करने पर वह मध्यम आसारित बन जाता है।

ज्येष्ठस्य भवति नियमादादावेका चतुष्कला मात्रा॥
मात्राद्वन्द्वयुतान्यत् कृत्वा तौ द्वौ च परिवर्तौ॥106॥

अर्थात्– ज्येष्ठ आसारित रूप भी आरम्भ में नियम अनुसार कहा है। इसमें आरम्भ में चार कलाओं की मात्रा को रखा है। फिर उसमें चार कलाओं के चार भागों को और जोडा जाता है। यह मात्रा 'कृदु' कहती है (एक प्रकार का दो वर्ण मात्रा) फिर सन्निपात में दो–दो मात्राओं का दो बार आरम्भ होने पर वह ज्येष्ठ आसारित कहलाता है।

बालं नवकलं येषां न तेषां साधुसम्मतम्॥
सन्निपाताङ्गविन्यासं कलानियमतः कृतम्॥107॥

कनिष्ठ आसारित अर्थात् छोटे प्रयोग में जब नौ कलाओं का प्रयोग किया जाता है तो इस प्रकार से निर्मित कलाओं को विद्वान नहीं मानते अर्थात् कलाओं का यह व्यवहार प्रशंसनीय नहीं माना जाता है, क्योंकि विद्वानों का माना है कि कनिष्ठ आसारित में सन्निपातों को सीापित किए हुए, शास्त्र के अनुसार घटा हुआ नहीं होना चाहिए।

अथ तत्र मुखे तालौ ध्रु वपातैरेत्र नियमितो मानम्॥
तस्य कलामात्राक्षर गुरुलघुवर्णस्थितं वक्ष्ये॥108॥

अर्थात्– इस विषय में सबसे पहले यह जान लेना चाहिए, कि मुख अंग में ध्रुव पात के आधार पर दो तालों को निबद्ध किया जाता है, तथा मुख नामक अंग में ताल तथा यति का मान के नियम प्रमाण के अनुसार पात किया जाता है। इसके प्रयोग के समय उसमें विद्यमान कला, मात्रा, अक्षर, गुरू, लघु और वर्णों की स्थिति को ध्यान रखना चाहिए।

ज्येष्ठस्य कला ह्यष्टौ मुखं भवेन्मध्यमस्य सप्त कलाः॥
षड्भिर्लयान्तरे स्यात् पच्चैव कला कनिष्ठस्य॥109॥

अर्थात्– ज्येष्ठ आसारित के मुख अंग में आठ कलाओं को रखा जाता है। मध्यम आसारित में कलाओं का प्रयोग होता है। लयान्तर में छः कलाओं का मुख अंग निर्मित होता है। कनिष्ठ आसारित में पाँच कलाओं का प्रयोग हुआ करता है।

आदावन्ते गुरुणि गध्ये च लघूनि वाद्यतः प्रभृति॥
अष्टौ द्वादष षोडष विषतिरपि चाक्षराणि स्युः॥110॥

अर्थात्– इन सभी आसारितों की उपोहन क्रिया की प्रयोग विधि का विधान ऐसा कहा गया है, जिसमें आठ अक्षरों की आसारित को कनिष्ठ आसारित में रखना चाहिए, जिसमें दो गुरू, चार लघु पुनः दो गुरू हो तो कनिष्ठ आसारित। इसी प्रकार दो गुरू, आठ लघु और दो गुरू होने से लयान्तरित में बारह अक्षरों को रखना चाहिए सोलह आक्षरों में मध्यम आसारित होता है। जिसमें दो गुरू, बारह लघु और दो गुरू होते है। ज्येष्ठ आसरित के अंतर्गत बीस अक्षरों को रखना चाहिए, इनमें दों गुरू सोलह लघु और दो गुरू होते है। इसके पश्चात् भरत मुनि ने अक्षरें को बतलाने की बात कही है, जो ब्रह्मगीतों में बतलायें गये है।

आसारितोपवहनेष्वादावासारणानि युक्तानि॥
तान्यक्षराणि वक्ष्ये यानि पुरा ब्रह्मगीतानि॥111॥

यथा–कुहु जगति यदि सिनि गिजं हु–प्रथमे लयान्तरे वाषि॥
तितिजल कुचत्रलय–मध्ये इतिकुचवलितल–ज्येष्ठे।

अर्थात्– ब्रह्मगीत की गान क्रिया में जिन प्राचीन अक्षरों का सम्बन्ध बताया गया है, उनमें प्रथम लयान्तर के अक्षर झण्टु, जगति और यदि गिनिगि तथा झण्टु इत्यादि बतलाए है। इसी प्रकार मध्यम लयान्तर के अन्तर्गत तितिझल, कुचझल शब्दों का वर्णन मिलता है। ज्येष्ठ लयान्तर के सन्दर्भ में तितिझल वृंदु अक्षरों को रखा गया है।

इत्यक्षरपतनकला गुरुलघुवर्णस्थितिप्रविभक्तः॥
आसारितमुखसंज्ञे उपवहनविधिः समुद्दिष्टः॥112॥

अर्थात्– मुख अंग की स्थिति में जो आसारित के अर्न्तगत जो उपोहन की विधि बतलाते हुए, अक्षरों की पात क्रिया कलाओं तथा गुरू और लघु अक्षरों का खण्ड करने की अवस्था इस तरह से हुआ करती है।

एवमेत्त् सविस्तारं कथितं परिमाणकम्॥
चत्वारस्तु गणा युग्मे ओजे षट् परिकीर्तिताः॥113॥

अर्थात्– भरत मुनि द्वारा आसारित के बारे में बतलाते हुए कहा गया है, कि इस तरह से उपोहन के नियम आपको विस्तार पूर्वक बतलाया है, जिनमें चतुरस्त्र (युग्म) में चार गण होते है। त्रयस्त्र (ओज) में छहः गण होते है।

पञ्चपाणौ द्वितीये तु सार्धाः षट् परिकीर्तिताः॥
कनीय एवं कर्त्तव्यमक्षरैस्तालमानतः॥114॥

यथा–देवं देवैः संस्तुतमीषं दैत्यैर्यक्षैः प्रणमितचरणम्॥
त्रैलोक्याहितमीषं हरं रुद्रं शरणमहमुपनतः॥144क॥

अर्थात्– इस प्रकार पंचपणि तथा द्वितीय (चाचपुट) में साढ़े छः गणों की संख्या रखी जाती है। कनिष्ठ आसारित में ताल के नियम इस प्रकार के होते है। इस श्लोक में भरत मुनि द्वारा शिवजी की स्तुति का वर्णन मिलता है, जिसमें उनका रूप रूद्र् माना है।

अष्टावेव गणाः कार्याः पूर्वताले यथाविधिः॥
द्वादषैव तु कर्तव्या षट्पितापुत्रके गणाः॥115॥

अर्ध–त्रयोदषस्तथा तृतीये वस्तु संज्ञिनि॥
एवम् अक्षरविन्यासो मध्यमासारिते स्मृतः॥116॥

अर्थात्– इस श्लोक में मध्य आसारित के अक्षरों को रखने के लक्षणों को बताते हुए कहा है, कि प्रथम या पूर्व ताल, जिसे चच्चत्पुट ताल भी कहा जाता है, उसको आठ गणों की विधि में रखा जाता है। उसी प्रकार बारह गणों (गिनती) के लक्षण में षटपितापुत्रक को रखा जाता है और इसी तरह से वस्तुतः त्तव के तृतीय विभाग में साढ़ें तेरह गण रखने की विधि होती है।

यथा–भूताधिपति भगनेत्रहरणमीषं देवैर्वन्ध्ं सुरमस्त्रमथनं रौद्रं भयदंगजचर्मपटम् शम्भुं त्र्यक्षं ज्वलननिभजटं भुजङ्गपरिकरम्॥

त्रिदषगणवृतं दैत्यैनित्यं परिपठितचरितम् अमर–पतिनमितम्
अभिमतसुखदं रुद्रं पीतं पितृवननिलयं गङ्गाप्लावितषोभनजटं तं शरणं गतोऽस्मि वरदञ्चमहेष्वरम्॥116क॥

अर्थात्– प्रस्तुत श्लोक के अर्न्तगत भरत मुनि द्वारा भगवान शिव को महेश्वर नाम से सम्बोधित करते हुए, महेश्वर रूप का वर्णन करते हुए, स्तुति प्रस्तुत की है। जो भूतों के अधिपति है और जिन्होनें भग के नेत्रों का हरण किया। साथ ही कहा है, जो अत्यन्त दयालु है, जो शीघ्र

ही प्रसन्न हो कर वर प्रदान करते है। और वह समस्त प्राणी जगत तथा जीवों के अधिपति है। जो देवताओं द्वारा पूज्यनीय है। और जिन्होनें दक्ष प्रजापति के यज्ञ का विध्वंस कर क्रोधपूर्ण रूप में ड़रावना स्वरूप जो भय उत्पन्न करने वाला है जो गजासुर के चर्म को धारण किए हुए है जिनके तीन नेत्र है और जटाओं में ज्वाला है, और सर्प माला पहने है वह शिव है। जिनकी स्तुती दैत्यगणों द्वारा की जाती है। वह शिव जिन्हें इन्द्र प्रणाम करते है, जो अपने भक्तों के समस्त इच्छओं को पूर्ण करते है जो शमशान में निवास करते है और जिनकी जटाओं में गंगा निवास करती है। उन महेश्वर को कोटी–कोटी नमन किया है।

कार्याः षोडष युग्माख्ये ताले तु प्रथमे गणाः ॥
चतुर्विंषतिरोजाख्ये द्वितीये वस्तुसंज्ञिते ॥117 ॥

चतुर्विंषतिरर्धष्च तृतीये वस्तुके भवेत् ॥
ज्येष्ठे त्वासारिते कार्य एवमक्षरसञ्चयः ॥118 ॥

अर्थात्– ज्येष्ठ आसारित के अक्षरों के विधान के क्रम में बताते हुए कहा है, कि इसमें सर्वप्रथम ताल के खण्ड के सोलह गण रखे गए है। उसके पश्चात् दूसरे खण्ड के ताल में चौबीस गण रखे जाए तथा जिसमें वस्तु गेय विधा से सम्बंधित नियम का प्रयोग होता हो, वस्तु के तीसरे विभाग अर्थात् खण्ड में साढ़े चौबीस गणों वाली तालों का प्रयोग होना चाहिए।

यथा–अमरप्रवरं मदनाङ्गहरं भुवनैकनाथम् अभयप्रदं त्रिपुरनाषकरं देवं तमहं प्रणतः। सुरपितृमुनिगणप्रणतवरणं पृथिवीसलिलानल–पवन–यज्ञाधिपति–सूर्य–चन्द्र–व्योमाख्याः अश्टोमुनिभिर्यस्य कार्या प्रोक्ताः त्रैलोक्यगुरुं तमचिन्त्यमजं विद्यानिलयं भैरवरूपं खट–वाङ्गधर स्थित्युत्पत्तिप्रलयनिमित्तं सूक्ष्माक्षमचिन्त्यं चन्द्रार्धधर' तिन्तकार्धधर कुचार्धधरं कान्तार्धधरम्। बहुलैर्विविधैर्विधृत विकटैः मुंण्डेः विमुखैर्विशमः प्रथमः परिवृतमीषं सत्तं प्रणतः ll

अर्थात्– प्रस्तुत श्लोक के अंर्तगत भरत मुनि के द्वारा भगवान शिव के देवों के देव महेश के स्वरूप का वर्णन किया है। सभी भय से मुक्त, त्रिभुवन के स्वामी तथा जिनकी उपासना सभी मुनि, देव तथा पितृगण के द्वारा की जाती है, जिन्होनें मदन को नष्ट किया। जिन्होनें जल, अग्नि, वायु, पृथ्वी सभी का सृजन किया। जो तीनों लोकों में पुज्यनीय है। जो समस्त विधाओं में निपूर्ण है। जो शाश्वत है अजन्मा है। जिन्हें प्रलयकरी भी कहा गया है। जिनके मस्तिष्क

पर चन्द्रमा विराजमान है त्रिनेत्रों वाले है। जिन्हें अर्धनारिश्वर रूप में भी पूजा जाता है अर्थात् अर्ध भाग में उमा विराजमान है और उमापति के नाम से विख्यात है। जो विभिन्न प्रकार के गणों अर्थात् भद्दे, मस्तकहीन, विकराटमुण्ड आदि से घिरे है। उन शिव का वर्णन किया गया है।

आसारितानां सर्वेषां त्रयो भेदाः प्रकीर्तिताः॥
यथाक्षरं द्विसंख्यातं त्रिसंख्यातमथापि वा॥119॥

अर्थात्– भरत मुनि द्वारा इस श्लोक में आसारित के तीन भेद हुआ करते है। ऐसा बतलाया है, कि जिन्हें यथाक्षर, द्विसंख्या तथा त्रिसंख्या कहा गया है।

तालच्छेदद्विगुणितैः समवर्णगणैः कृतम्॥
अनिवृत्ताक्षरपदं यथाक्षरमिति स्मृतम्॥120॥

अर्थात्– जो वर्ण एक समान गणों से रचित हो तथा जिसको ताल के स्वरूप को देखते हुए दुगुन किया जाए तथा वर्ण और गणों के समान तथा बराबर उपयोग के हेतु अपने पद में जिसमें अक्षरों की आवृति न होती हो, इस प्रकार ताल के द्वारा निर्मित होने से यथाक्षर कहलाता है।

निवृत्या यत्समायुक्तं द्विसंख्यातं तदुच्यते॥
निवृत्तिद्वयसम्पन्नं त्रिसंस्यातमितीष्यते॥121॥

अर्थात्– द्विसंख्या तथा त्रिसंख्या के लिए कहा है, कि जिस आसारित में यथाक्षर की वृत्त को जब एक जैसा दो बार दोहराया जाए तो वह द्विसंख्यात कहलाता है तथा इसी प्रकार जब यथाक्षर और द्विसंख्यात को एक साथ करके इनको भी दो बार दोहराया जाए तो वह त्रिसंख्यात आसारित कहलाता है।

चतुष्कादौ चतुर्मात्रा यथोक्त–गुरुलाघवाः॥
यथायोगं गणाः कार्या गीतेष्वासारितेषु च॥122॥

अर्थात्– गुरू तथा लघु अंगों से युक्त चार मात्राएं होती है। इस प्रकार आसारित गीतों में ताल गणना का कार्य नियमानुसार मिलाप करके समान रूप से बनाना चाहिए।

अक्षरैर्या चतुर्मात्रा द्विमात्रा वर्णतस्तथा॥
चित्रे कला भवेद् या तु वृत्तौ सा द्विगुणा मता॥123॥

वृत्तौ या वर्णमात्रा तु चतुर्मात्रा प्रकीर्तिता॥
द्विगुणा दक्षिणे सा तु कला ज्ञेयाः प्रयोक्तृभिः॥124॥

अर्थात्– आसारित गीतों में जिन अक्षरों की चार मात्राएं होती है, वही अक्षर वर्ण में दो मात्रा होती है, उसी तरह से चित्र मार्ग जो कला होती है, वही वृत्ति मार्ग में दो गुणी हो जाती है। अतः वही कला जब वृत्ति अथवा वार्तिक मार्ग में होती है, तो वह कला चार मात्राओं के सिद्ध होते है, वही दक्षिण मार्ग के अंर्तगत दुगुनी कलाओं के हो जाते है अर्थात् जिस तरह से वृत्ति मार्ग में दो कला होती है, वृत्ति में चार कला हो जाएगी और दक्षिण में आठ कला बन जाती है।

न मार्गभेदोऽक्षरेषु कष्चिदप्युपपद्यते॥
वर्णमात्राद्द्विगुणिताद् वर्णभेदः प्रकीर्तितः॥125॥

अर्थात्–यहाँ मार्ग भेद का परिर्वतन अक्षरों के कारण नहीं होता, परन्तु यदि वर्ण या मात्राओं के दो गुणा हो जाने पर वर्ण भेद हो जाता है।

यथाक्षरेषु भूयिष्ठं गीतेष्वासारितेषु च॥
विधिरेष समुद्दिष्टो वर्ण–तालसमाश्रयः॥126॥

अर्थात्– भरत मुनि के द्वारा वर्णन करते हुए कहा गया है, कि जो प्रयोग विधि आसारित गीतों में अक्षरों के लिए बताई गई है, वह उसी के अनुकूल हुआ करती है, जो वर्ण और ताल पर निर्भर होती है।

द्विसंख्याते निवृत्तिस्तु कार्या स्यादर्धयोगतः॥
द्विसंख्यातायोगेन त्रिसंख्यातेऽपि चेष्यते॥127॥

अर्थात्– दो संख्या वाले आसारित गीत की वृति में आधे गण को जोड़ देना चाहिए और तीन संख्या वाले आसारित में दो संख्या वाले आसारित का आधा गण और जोड़ देने से चित्र आसारित बन जाता है।

न च चित्रे द्विसंख्यातं कदाचिदपि योजयेत्॥
न च वृत्तौ त्रिसंख्यातं गीतेष्वासारितेषु च॥128॥

अर्थात्– चित्र मार्ग में जिस आसारित का प्रयोग किया जाता है, उसमें द्विसंख्या आसारित का प्रयोग नहीं होता तथा न ही कभी वृति या वृर्तिक मार्ग में तीन संख्या वाली आसारित गीतों का योग या प्रयोग करना चाहिए।

दक्षिणे स्यात् त्रिसंख्यातं द्विसंख्यातञ्च वार्तिक॥
चित्रे यथाक्षरं प्रोक्तमिति मार्गविनिष्चयः॥129॥

अर्थात्– तीन संख्या वाले आसारित या योग दक्षिण मार्ग में करना चाहिए और दो संख्या वाले आसारित गीत का प्रयोग वार्तिक मार्ग में होना चाहिए। चित्र मार्ग के व्यवहार के लिए मार्ग द्वारा विधिवत यथाक्षर का प्रयोग ही किया जाता है।

दक्षिणेनैव गत्वादौ निवृत्तौ वृत्तिवद् व्रजेत्॥
चित्रवञ्च यथान्यायं त्रिसंख्याते विधिः स्मृतः॥130॥

अर्थात्– यथाक्षर पद्धति के बारे में बताते हुए कहा है, कि यह हमेशा मार्ग के अनुकूल की जाती है। दक्षिण पद्धति में प्रराम्भ में वृतियों का प्रयोग व्रजित है। कुछ का मत है, कि चित्र नामक विधि मे प्रयोग वर्णों के अनुकूल तीन संख्या वाले वर्णों के प्रयोग की विधियॉ कुछ अलग भी होती है।

अनेनैव विधानेन द्विसंख्यातमपीष्यते॥
वृत्तौ वा दक्षिणे वाऽपि प्रयोगोऽस्यैव चेष्यते॥131॥

वस्त्वादौ वस्तुमध्ये च वस्त्वन्ते वा निवृत्तयः॥
प्रयोक्तव्या प्रयोगषैविचार्याङ्गबलाबलम्॥132॥

अर्थात्– दो संख्या वाले आसारित की प्रयोग विधि इसी विधान के अनुसार की जाए, उसी का प्रयोग दक्षिण या वार्तिक मार्ग में भी रहना चाहिए। संगीतज्ञों को चाहिए कि वृत्त हमेशा वस्तुत त्तव के प्रारम्भ में, मध्य में तथा अन्त में दक्षिण मार्ग के अनुसार वृत्त की पुनरावृति करते हुए वाद्य वादन करें और प्रयोग करता को वृत्त और वस्तुत त्तव के विभिन्न अंगों को बराबर देखते हुए, वादन क्रिया को परिपूर्ण करना चाहिए।

निवृत्तौ तु कला न्यूना यदा यस्तुबषादू भवेत्॥
आकलापतनात् तस्या वर्णः कार्यो निवृत्तिमान॥133॥

अर्थात्– कदाचित वस्तु के कारण यदि आवृति के अन्तिम शब्द पर कलाओं का कुछ कमी रह जाए, तो गायक को वर्ण को दोहराते हुए या लम्बा खीचकर **अर्थात्** आलाप करते हुए इस एक कला की कमी को पूरा कर लें।

वर्णालङ्कारसौभाग्यं विच्छेदः करणस्य च॥
त्तवादीनां प्रयोगष्च निवृत्तीनां प्रयोजनम्॥134॥

अर्थात्– इस तरह से जो आवृति की जाती है अर्थात् दोहराया जाता है कि इससे वस्तु संगीत को सुन्दरता दिखाने के लिए तथा वर्ण और अलंकारों की सौन्दर्य वृद्धि के लिए और आनन्दित बनाने हेतु इस क्रिया को किया जाता है।

वर्णतालाक्षराणाष्च संयोगोऽयं मया स्मृतः॥
आसारितेषु गीतेषु वर्धमानेषु चैव हि॥135॥

अर्थात्– इस श्लोक मे भरत मुनि द्वारा कहा गया है, कि इस प्रकार वर्ण और अक्षरों तथा ताल के योग से यह बतलाया कि किस प्रकार आसारित और वर्धमान में इनके आपसी संयोग से सम्पन्न होता है।

चतस्त्रः कण्डिका ज्ञेया वर्धमाने प्रयोक्तृभिः॥
विषाला सङ्गता चैव सुन्नदा सुमुखी तथा॥136॥

अर्थात्– वर्धमानक गीत की चार काण्डिका अर्थात् विभाग होते है, जो क्रम अनुसार इस प्रकार है– (1) विशाला, (2) संगता, (3) सुन्नदा तथा (4) सुमुखी।

ततः पूर्वा नवकला द्वितीयाष्टकला स्मृता॥
तृतीया षोडषकला द्वात्रिंषष्च तथोत्तरा॥137॥

अर्थात्– इस वर्धमानक गीत के विभागों में पहले विभाग में नौ कलाओं का होता है, दूसरा खण्ड़ आठ कलाओं से निर्मित होता है, तीसरा सोलाह कलाओं से और चौथा तथा अंतिम भाग बतीस कलाओं से समपन्न होता है।

उपोहनविधिस्तासामधुना च मयोच्यते॥
उपोहनं विषालायाः कलापञ्चकमेव हि॥
षट्कला सङ्गतायाष्च सुन्नदायाष्च सप्तकम्॥138॥

सुमुख्याष्चोपवहनं नित्यमष्टकलं भवेत॥
एतेषाञ्चैव वक्ष्यामि गुरुलघ्वक्षरकमम्॥139॥

अर्थात्– वर्धमान गीत की कला विधि बतलाने के पश्चाात् भरत मुनि द्वारा अब उसकी उपोहन विधि को बतलाते हुए कहा है कि वर्धमान के चार विभाग में से पहले विभाग विशाल में उपोहन पांच कला से सिद्ध होता है, दूसरे प्रकार संगता में उपोहन की छः कलाएं होती है। सुन्नदा का सात कलाओं का प्रमाण होता है तथा सुमुखी आठ कलाओं का उपोहन रखा जाता है।

आदौ गुरुद्वयं कार्ये चतुर्दष लघून्यपि॥
उपोहनं विषालायाः पुनरन्ते गुरुः स्मृतः॥140॥

अर्थात्– वर्धमान गीत के उपोहन विधि के बाद भरत मुनि द्वारा वर्धमान गीत के चार विभागों के उपोहन अक्षरों का लघु, गुरू का क्रम बतलाया है। प्रथम दो गुरू उसके बाद चौदाह लघु अक्षरों वाले विशाल उपोहन के अन्त में गुरू अक्षर रहता है।

यथा– ॠं दुं जगति अवलितक दिगिनिकुचकृततिति चा॥
चतुर्भिरधिकै र्हस्वैगुरुत्रयसमन्वितम्॥
सङ्गतायाष्च मुनिभिरुपोहनमिति स्मृतः॥141॥

अर्थात्– यह कहा गया है, कि यदि विशाल उपोहन में ही चार लघु अक्षरों को विस्तृत करते है और तीन गुरू अक्षरों का योगकर दिया जाए, तो वह संगता का उपोहन कहलाता है।

यथा–ॠं दुं जगति अवलितक दिगि निगि तिति झल तिति चा॥
चतुर्भिरधिकैरेवं लघुभिर्गुरुसंयुतैः॥
सुन्नदायाष्च विज्ञेयों ह्युपोहनविधिर्बुधैः॥142॥

अर्थात्– सुन्नदा कण्डिका की उपोहन विधि में इस प्रकार है, कि यदि संगता विभाग के उपोहन में चार लघु अक्षरों को विस्तृत करते हए, तीन गुरू अक्षरों को जोड़ा जाए, तो वह सुन्नदा की उपोहन हो जाता है।

यथा–ॠं दुं जगति अवलितक दिगिति ॠल कुचलतिति वा।
अष्टाविंषल्लघूनि स्युः सुमुख्याष्च गुरूणि च॥
उपोहनविधाने तु ज्ञेयानि मुनिसत्तमाः॥143॥

अर्थात्– सुमुखी विभाग में उपोहन की विधि में प्रथम में अठ्ठाईस लघु और उसके पश्चात् तीन गुरू रखे जाते है। इस प्रकार भरत मुनि द्वारा उपोहन विधान की विशेषता इस विधि के समान कही है।

यथा– ॠं दुं जगति अवलितक दि्गि विगि तिति ॠल ॠच कुलतितिजगतिति वा।
उपोद्यन्ते स्वरा यस्मात् यस्माद् गीतं प्रवर्तते॥
तस्मादुपोहनं ज्ञेयं शुष्काक्षरसमन्वितम्॥144॥

अर्थात्– उपोहन के विभाग (कण्डिका) गीत के स्वरों की ध्वनि को आगे की और बढ़ाने का काम करती है। इसलिए उसे उपोहन कहा जाता है। अतः इसमें शुष्क अक्षरों **अर्थात्** अक्षरहीन

ध्वनि का भी प्रयोग होता है– जैसे निरर्थक वर्णों से सम्मिलित इस विधि को उपोहन कहा जाता है, जिसे आज आलाप भी कहते है।

अथवोपोहते यस्मात् प्रयोगः सूचनादिभिः॥
तस्मादुपोहनं ह्येतद् गानं भाण्डसमाश्रयम्॥145॥

अर्थात्– इस नाट्य प्रयोग के कार्य के आरम्भ होने की सूचना के साथ गायन और वादन की क्रिया को आगे बढ़ाता है। इस कारण संगीत उपयोगी वाद्य **अर्थात्** भाण्ड वाद्य युक्त गान क्रिया के प्रथम अंग को उपोहन की संज्ञा दी है।

शम्यातालौ द्विरभ्यस्तौ सन्निपातान्त्य एव च॥
उपोहने विशालायास्तालोऽयं परिकीर्तितः॥146॥

अर्थात्– उपोहन में ताल विधान बताते हुए कहा है, कि जिस उपोहन में ताल क्रम में प्रथम शम्या का प्रयोग, दूसरा ताल का, फिर श्म्या और फिर ताल और अन्त में सन्निपात करे रखा हो, तो वह विशाल उपोहन कहलाता है।

द्विकलः संड्गतायास्तु तालश्चापपुटः स्मृता॥
तस्यैव सन्निपातोऽन्त्ये सुन्नदायास्तथैव च॥ 147॥

अर्थात्– संगता उपोहन में दो कलाओं के चाचपुट का प्रयोग होता है। संगता उपोहन का ताल क्रम इस प्रकार है– प्रथम निष्क्राम, फिर शम्या, तीसरा ताल फिर शम्या और बाद में निष्क्राम और अन्त में सन्निपात होता है। इसी प्रकार जब संगता उपोहन के ताल क्रम के अन्त में एक सन्निपात और जोड़ दिया जाए, तो वह सुन्नदा उपोहन हो जाता है।

चच्चत्पुटस्तु द्विकलः सुमुख्यां स्यादुपोहने॥
उपोहने द्विरभ्यस्तैस्त्तः कार्या तु कण्डिका॥148॥

अर्थात्– सुमुखी उपोहन के ताल में दो कला का चचत्पुट ताल का प्रयोग होता है। इस तरह से उपोहन विधि को दो बार दोहराने या आवृति करने का कार्य कण्डिकाओं के द्वारा पूर्ण किया जाता है।

एतान्युपोहनानीह चत्वारि कथितानितु॥
आनुपूर्व्या प्रयोगष्च कण्डिकानां निबोधत॥149॥

अर्थात्– इस प्रकार उपोहन क्रिया के बारे में विस्तारपूर्वक बतलाते हुए कहा कि किस तरह से यह चार प्रकार की होती है अतः अब मैं कण्डिकाओं का प्रयोग के आरम्भ से उसके सम्बन्ध के बारे में बतलाता हूॅं। भरत मुनि ऐसा कहते है।

शम्या तालष्च शम्या च पुनस्तालो यथाक्रमम्॥
त्रिकलः सन्निपातष्च विषालायाः प्रकीर्तितः॥150॥

अर्थात्– विशाला उपोहन के ताल क्रम में प्रथम शम्या फिर ताल, फिर शम्या उसके बाद ताल का क्रम रखा जाता है और अन्त में दो कलाओं के साथ सन्निपात का प्रयोग करना चाहिए।

चञ्चत्पुटस्तु द्विकलः सङ्गताया अपि स्मृतः॥
चतुष्कलः सुन्नदाया स एव गदितो बुधैः॥151॥

अर्थात्– संगता उपोहन की क्रिया विधि में दो कलाओं का ताल क्रम होता है और सुन्नदा उपोहन के लिए संगता उपोहन में ही दो कलाएं और बढ़ा देने से सुन्नदा का ताल क्रम होता है **अर्थात्** चार कलाओं का चच्चत्पुट का ताल क्रम है।

सन्निपातद्वयोपेतो द्विचित्रस्तु प्रयोक्तृभिः॥
कार्यष्चतुष्कलो युग्मः सुमुख्याया यथाक्रमम्॥152॥

अर्थात्– सुमुखी उपोहन क्रिया के लिए दो कलाओं का चच्चत्पुट को चार कलाओं वाले चच्चत्पुट के योग के साथ सन्निपात को दो मात्राओं के साथ क्रिया की जाए तो, वह सुमुख उपोहन की ताल क्रम हो जाता है।

वर्धमानस्य तालोऽयं कण्डिकानां पृथक् पृथक्॥
मया प्रोक्तः पुनष्चैव संहतानां निबोधत॥153॥

अर्थात्– भरत मुनि द्वारा अब तक के श्लोकों में वर्धमान गीत में तालों के विभाग के अलग–अलग नियम बताए गए है। अब आगे के श्लोकों में उनके सभी प्रकार की प्रयोग विधि का वर्णन भरत मुनि द्वारा किया गया है।

पूर्व विषाला कर्तव्या बालतालपयोजिता॥
अन्तिमा त्रिकलोपेता बालमासारितन्तु त्त्॥154॥

अर्थात्– सबसे पहले विशाल को कनिष्ठ ताल अर्थात् छोटे ताल के विषय में प्रयोग होना चाहिए और यदि उसके आखिर में दी गई ताल के अन्त में तीन कला के साक्ष्य वाली ताल में हो, तो वह बाल ताल या कनिष्ठ आसारित कहलाता है।

सङ्गताया ग्रहं कृत्वा विषाला सकला यदि॥
युज्यते पूर्वताले तु यदा स्यात्तल्लयान्तरम्॥155॥

अर्थात्– संगता का ग्रह प्रतिष्ठित करते हुए, विशाल को सम्पूर्ण कलाओं से युक्त प्रथम ताल से एकत्रित किया जाए, तो वह लयान्तर बन जाता है।

सुन्नदा च यतः कार्या सङ्गता पुनरेव हि॥
विषालाञ्च पुनष्चौव सुमुखीञ्च प्रयोजयेत्॥156॥

अर्थात्– यह सम्पन्न होने के पश्चात् फिर सुन्नदा उपोहन की प्रस्तुती की जाती है। उसके पश्चात् संगता को फिर विशाला और अन्त में सुमुखी को उपयोग किया जाना चाहिए।

कनिष्ठासारिते तालो यो मया परिकीर्तितः॥
स एव सर्वः कर्त्तव्यः प्रथमे कण्डिकोद्भवे॥157॥

अर्थात्– कनिष्ठ आसारित की ताल क्रिया पर जिसका वर्णन पहले हो चुका है, वह ताल क्रम सम्पन्न करते हुए, पहली कण्ड़िका के प्रथम में भी उपयोग करना चाहिए।

सुन्नदा सङ्गता चैव विषाला च यथोदिता॥
सुन्नदाया ग्रहं कृत्वा त्तष्चौव प्रयोजयेत्॥158॥

अर्थात्– सबसें पहले सुन्नदा, फिर संगता बाद में विशाल की उपोहन क्रिया पूर्ण करनी चाहिए। सुनन्दा के ग्रह की स्थापना इसी क्रमानुसार करनी चाहिए।

मध्यमासारिते तालो यो मया परिकीर्तितः॥
शम्यात्रयस्य कर्त्तव्यः सुन्नदाद्यस्य पण्डितै॥159॥

अर्थात्– मध्यमासारित के अंर्तगत सुन्नदा ग्रह की प्रस्तुती करते हुए मध्यम आसारित के ताल विधि का उपयोग किया जाना चाहिए। इस क्रम की क्रिया का प्रयोग त्र्यस्त्र शम्या की दशा में सुन्नदा उपोहन की कार्य विधि के अर्न्तगत होना चाहिए।

सुमुखी च सुन्नदा च सङ्गता पुनरिष्यते॥
सुमुख्यादौ ग्रहं कृत्वा यथोक्तं सम्प्रयोजयेत्॥160॥

अर्थात्– सुमुखी और सुन्नदा के बाद संगता उपोहन की क्रिया को पूर्ण करके सुमुखी ग्रह की प्रस्तुती करनी चाहिए।

विशालाया समाप्तिस्तु ज्ञेया अथ निवृत्तयः॥
ज्येष्ठ त्वासारिते तालो निःशद्बः शदवाँस्तथा॥161॥

अर्थात्– इसके पश्चात् पुनः विशाल को सम्पन्न करने का विचार किया जाए और उसी तरह से आवृत्ज्ञा का भी ध्यान रखा जाए। उसके बाद ज्येष्ठ आसारित की ताल क्रिया निशब्द या सशब्द क्रिया का प्रयोग अपनी आधार स्वरूप कर लेना चाहिए।

स एव सर्वः कर्तव्यो बुधैश्चतसृणामपि॥
संयोगे कण्डिकानान्तु तालोऽयं परिकीर्तितः॥
एवमासां समायोगाद् वर्धमानकमिप्यते॥162॥

अर्थात्– इस नियम से इसके सभी प्रकारों का उपयोग इन चार अंगों के अनुरूप होता है। चारों कण्डिकाओं अर्थात् ताल अंग के विभागों के संयोग से यही ताल क्रिया का नियम होता है तथा इसी तरह से इप विभिन्न अंगों के योग के कारण वर्धमानक का सृजन होता है या वर्धमानक कहलाता है।

बालं नवकलं ज्ञेयं दशसप्तलयान्तरम्॥
पञ्चषष्टिकलं ज्येष्ठं त्रयस्त्रिशत्तु मध्यमम्॥163॥

अर्थात्– बाल आसारित अर्थात् कनिष्ठ आसारित नौ कलाओं से उत्पत्ति होती है। लयान्तर सत्रह कलाओं का होता है। मध्यम आसारित का निर्माण तैतिस कलाओं वाला होता है और ज्येष्ठ आसारित में पैंसठ (65) कलाओं से पूर्ण होता है।

एतत्तालविधान्नतु सर्वेष्वासारितेषु च॥
कलानां वृद्धिमासाद्य त्वक्षराणान्तु वर्धनात्॥
लयस्य वर्धनाश्चापि वर्धमानकमुच्यते॥164॥

अर्थात्– आसारितों की ताल विधि होने का यही नियम है। अतः कण्डिकाओं अर्थात् ताल अंगों का संयोग होने से वर्धमानक कहा जाता हैं। इसको वर्धमानक कहने का कारण यह भी है, कि कलाओं की समृद्धि हो जाने के कारण और लय को उसके निश्चित रूप में वृद्धि करने से लेकर पूर्ण होता है। इसलिए इसे वर्धमानक भी कहा जाता है।

आसारितेषु गीतेषु वर्धमानेषु चैव हि॥
द्विगुणस्तालयोगेन कार्यौं ह्यक्षरजो विधिः॥165॥

अर्थात्– ताल को दुगुना करते हुए, आसारित के गीत हो अथवा वर्धमानक गीत सभी तरह के अक्षरों के हो या इससे सम्बंधित हों, उनके विधान में रखने का यही नियम है।

समाप्तावन्तरहितः सन्निपातो यदा भवेत्॥
अन्त्या कला द्विमात्रा तु तदा ज्ञेया प्रयोक्तृभिः॥166॥

अर्थात्– जो सन्निपात सबसे अन्त में आता है, यदि कभी वह गीत के बिना समाप्ति के बीच की पंक्तियों में आ जाए, उस समय पर अन्त करते हुए, प्रयोग कलाओं को दो मात्राओं की कलाओं का उपयोग कर लेना चाहिए।

एवमेतन्मया प्रोक्तं वर्धमानस्य लक्षणम्॥
आसारितानां वक्ष्यामि प्रस्तारं लघुलक्षणम् ॥167॥

अर्थात्– इस श्लोक में भरत मुनि द्वारा वर्धमान के समस्त लक्षण को बतलाने की बात कही है और उसके बाद आसारितों के लक्षण की बात विधिपूर्वक आगे बतलाये है।

अन्यूनायां कलायां तु ध्रवं प्राज्ञो निवेशयेत् ॥
अथ तालाक्षरवशाच्छेषान्नताँश्च योजयेत् ॥168॥

अर्थात्– ध्रुवा का उपयोग करते हुए, सदा यह ध्यान होना चाहिए, कि कलाएं किसी भी प्रकार कम न होती हो और तालों के सभी अंशों का तथा उनके नियम अक्षरों को ध्यान में रखते हुए, उनके व्यवहार के अनुरूप उनमें सन्निपात की योजना की जाए।

प्लुते लघ्वक्षरे चैव ध्रुवे साम्यं न विद्यते॥
न विद्यते त्रिभिः पातैः समत्वमुपदिश्यते॥169॥

अर्थात्– ध्रुवा में उपस्थित प्लुत तथा लघु अक्षरों में शम्या का उपयोग नहीं होता और न ही उनमें तीनों सन्निपातों का प्रयोग होता है। बल्कि उनमें तुल्यता की नियती बनाए रखने का प्रयत्न किया जाता है।

तालैश्च सन्निपातैश्च शम्याभिश्च ध्रुवेण च॥
कनिष्ठासारितं कार्यं मध्यमं ज्येष्ठमेव च॥170॥

अर्थात्– कनिष्ठ मध्य तथा ज्येष्ठ आसारितों में हमेशा ताल, सन्निपात तथा ध्रुवाओं के विभिन्न अंगों के साथ विधिपूर्वक उपयोग किया जाता है।

द्विगुणोत्तरया वृद्धया ह्यस्यैव तु मध्यमं विधातव्यम्॥
प्रस्तारे चैव कलानां शम्या तालान्तरोपेतम्॥171॥

अर्थात्– कनिष्ठ आसारित को मध्य आसारित में करने हेतु कलाओं को दुगुना करना चाहिए और शम्या बोलों के बीच में अन्तर रखते हुए करना चाहिए।

उत्तरतालः प्रथमे वस्तुन्यादौ कलात्रयं त्यक्त्वा॥
कार्यौं मध्ये नित्यं द्वौ परिवौं च सम्पूर्णौ॥172॥

अर्थात्– मध्यम आसारित की पहली वस्तु में तीन कलाओं को छोड़कर शेष उत्तर ताल **अर्थात्** षटपितापुत्रक ताल रह जाता है तथा दो बार दोहराया जाता है।

पूर्व शम्या कार्या द्विकलस्तालः कलाद्वये शम्या॥
पुनरेककलः तालस्त्रिकलः स्यात् सन्निपातश्च॥173॥

त्रिकलोऽथ पुनस्तालः शम्येककलाद्वये तालः॥
द्विकला च पुनः शम्या तालः द्विकलश्च कर्त्तव्यः॥174॥

त्रिकलश्च सन्निपातो भूयो विधिरेष एव कर्तव्यः॥
द्वादशकलस्तृतीये तस्यान्ते सन्निपाताश्च॥175॥

अर्थात्– मध्य आसारित में की जाने वाली पात कला का क्रम इस तरह से किया जाता है। सबसे पहले शम्या, उसके पश्चात् दो कला की ताल, फिर दो कला की शम्या, पुनः एक कला का ताल, फिर तीन कला का सन्निपात, इसके बाद फिर तीन कलाओं की ताल, फिर कला की शम्या, उसके पश्चात् दो कला का ताल तथा तीन कला का सन्निपात और अन्त में बारह कलाओं का पुनः सन्निपात रहता है। इस विधान से मध्य आसारित की पात क्रिया पूर्ण होती है।

प्रथमस्त्वष्टकलः स्याद् द्वादशकलिकौ तथापरौ ज्ञेयौ॥
अन्त्यश्च सन्निपातो मध्यस्यासारितस्योक्तः॥176॥

अर्थात्– ऐसा कहा गया है, कि मध्य आसारित का प्रथम खण्ड आठ कलाओं का रखना चाहिए। दूसरा भाग बारह कलाओं का तथा अन्त में सन्निपात के साथ तीसरा भाग चौबीस कलाओं का होना चाहिए।

ये पूर्वमङ्गलिकृतः प्रवेश–विक्षेप–निष्क्रमा गदिताः॥
ते सर्वे कर्त्तव्या मध्ये त्वासारित तज्ज्ञैः॥177॥

अर्थात्– अंगुलियों के माध्यम से व्यवस्थित जिन प्रवेश विक्षेप और निष्क्राम के विषय में पहले कहा है। विशेषज्ञों को चाहिए कि मध्य आसारित में भी अंगुलियों के प्रवेश, निष्क्राम का उपयोग ध्यान से करें।

अथ ज्येष्ठे तु कर्तव्यं शम्याताललयात्मकम् ॥
शरीरं हि बुधैर्नित्यं पञ्चषष्टिकलान्वितम् ॥178 ॥

अर्थात्– विशेषज्ञ को चाहिए कि ज्येष्ठ आसारित शरीर के सृजना करने हेतु शम्या, ताल से व्यवस्थित करें और पैंसठ कलाओं से सम्पन्न करते हुए रखना चाहिए।

तस्यावापोऽथ निष्कामो विक्षेपोऽथ प्रवेशनम् ॥
अङ्गुलीनान्तु कर्त्तव्यं कलामानं चतुष्कलम् ॥179 ॥

अर्थात्– ज्येष्ठ आसारित में अंगुलियों के माध्यम से किया जाने वाला आवाप, निष्क्राम, विक्षेप तथा प्रवेश अंगों का काल क्रम पूरा करने के लिए कला मान चार कलाओं का रखना चाहिए।

ज्येष्ठ चतुष्कलं स्यादावापैः संयुक्तं सविक्षेपैः ॥
वस्त्वन्यत्र स्यात् सप्तदशकलन्तु शम्यादि ॥180 ॥

अर्थात्– ज्येष्ठ आसारित में चार कलाओं का आवाप तथा विक्षेप से संयुक्त होता है तथा इसमें वस्तु स्थान पर सत्रह कलाओं का होता है तथा शम्या से प्रारम्भ होती है।

पूर्वे शम्या कार्या चतुष्कलो वै भवेत्ततस्तालः ॥
शम्या चतुष्कला स्याद् द्विकलस्तालस्त्तः कार्यः ॥181 ॥

कार्यश्च सन्निपातः षट्कलिकः षटकलश्च तालः स्यात् ॥
द्विकला च पुनः शम्या चतुष्कलः स्यात् पुनस्तालः ॥182 ॥

शम्या चतुष्कला स्यात् तालो द्विकलश्च' कर्त्तव्यः ॥
पुनरेव सन्निपातश्च षट्कलः संविधातव्यः ॥183 ॥

अर्थात्– प्रथम में चार कलाओं वाली शम्या का उपयोग किया जाता है तथा उसके अन्त में ताल क्रिया हुआ करती है। इसमें शम्या चार कलाओं की बतायी तथा ताल के उपयोग होने पर वह दो कलाओं की बन जाती है। इस आसारित में होने वाले पातों का क्रम इस तरह का है। इसमें सन्निपात के कार्यों में छः कलाओं का विधान उपयोग किया गया है। इसमें छः कलाओं की ताल का प्रयोग किया जाता है। इसके अनुसार उसके बाद दो कलाओं की शम्या

और उसके पश्चात् चार कलाओं वाली ताल का उपयोग किया जाता है। उसके बाद चार कलाओं की शम्या, दो कलाओं की ताल का व्यवहार प्रतिक्षित होती है। त्पश्चात् सन्निपात करने पर यह विधि छः कलाओं की बन जाती है।

विधिरेष एव कृत्स्नः पुनस्तृतीय सन्निपातेऽन्ते तु॥
पुनरे षामङ्गुलिविक्षेपं सम्प्रवक्ष्यामि॥184॥

अर्थात्– तृतीय सन्निपात अर्थात् ज्येष्ठ आसारित के सन्निपात के समय इसी तरह नियम का विधान होता है। उसके बाद भरत मुनि द्वारा अंगुलियों के विक्षेप अर्थात् चलने की क्रिया के बारे में बतलाने की बात कही है।

आवापः सह शम्या निष्कामश्च त्तः परम्॥
विक्षेपश्च त्तस्तालः कार्यः पुनरावाप इष्यते॥185॥

अनामिकया निष्क्रामो विक्षेपोऽन्नतरं स्मृतः॥
शम्यया सह आवापस्तालो विक्षेपणं पुनः॥186॥

कार्यश्च मध्यमाङ्गल्या प्रवेशश्च त्तः परम्॥
आवापश्च त्तः कार्यस्तर्जनीनिष्क्रमस्तथा॥187॥

विक्षेपश्च पुनः कार्यः सन्निपातस्तथैव च॥
कलाः सप्तदशैवैताः सन्निपाते तदन्तरम्॥188॥

अर्थात्– अंगुलियों द्वारा शम्या का आरम्भ करते हुए, क्रिया के क्रम में सबसे पहले आवाप उसके पश्चात् निष्क्राम, बाद में विक्षेप से ताल उपस्थित करते हुए, फिर से आवाप क्रिया करनी चाहिए। उसके पश्चात् अनामिका और कनिष्ठा अंगुली से निष्क्राम क्रिया पूर्ण करते हुए, विक्षेप, शम्या और आवाप को दो बार दोहराते हुए रखना चाहिए। मध्यम आसारित के ताल में विक्षेप के बाद प्रवेशन उसके बाद आवाप क्रिया करने के बाद तर्जनी से विक्षेप और सन्निपात को करना चाहिए। इस तरह से यह सत्रह कलाओं वाला सन्निपात होता है।

आवापश्च पुनः कार्यः कनीयस्याऽथ निर्गमः॥
विक्षेपश्च प्रवेशश्च आवापश्च त्तः पुनः॥189॥

अनामिका कनीयस्योस्त्तस्तालो भवेत् पुनः॥
विक्षेपश्च पुतस्ताभ्यां त्तः शम्या प्रकीर्तिताः॥190॥

आवापश्च कनीयस्यां त्तस्तालं नियोजयेत॥

आवापश्च त्तः कार्यस्तर्जनीनिष्क्रमस्तथा॥
विक्षेपः पञ्चदशकः शम्यया सह कीर्तितः॥191॥

आवापश्चौव कर्त्तव्यः पुनस्तालः प्रयोक्तृभिः॥
विक्षेपश्च प्रवेशश्च पुनरावाप पच च॥192॥

प्रदेशिन्या च निष्कामो विक्षेपश्च पुनः स्मृतः॥
सन्निपातस्तथान्त्ये च चतुर्विंशतिको भवेत्॥193॥

अर्थात्– आवाप क्रिया को अंगुलियों से पूर्ण करते हुए, कनिष्ठा से निष्क्राम क्रिया पूरी करके, विक्षेप और प्रवेश के साथ आवाप करते हुए, अनामिका और कनिष्ठा अंगुली से कार्य पूर्ण होने से ताल पूरा होता है। इसके पश्चात् उसमें विक्षेप क्रिया पूरी करने के कारण वह शम्या कहलाती है। उसके पश्चात आवाप क्रिया पूर्ण करते हुए, मध्यमा अंगुली के द्वारा निष्क्राम क्रिया सम्पन्न करने के बाद विक्षेप से ताल की नियुक्ति की जाती है। त्तपश्चात् आवाप क्रिया करने के बाद तर्जनी से निष्क्राम क्रिया सम्पन्ज्ञा करनी चाहिए। इस प्रकार पचास कलाओं वाली शम्या सम्पन्न होती है। त्तपश्चात् आवाप क्रिया को अंगुलियों द्वारा सम्पन्न करने के बाद कनिष्ठा अंगुली से ताल की नियुक्ति की जानी चाहिए। तथा अंगुलियों से विक्षेप और आवाप क्रिया सम्पादित करनी चाहिए। फिर तर्जनी के द्वारा निष्क्राम और विक्षेप क्रिया सम्पन्न करते हुए जो सन्निपात होता है। वह चौबीस कलाओं का सन्निपात कहलाता है।

तृतीयसन्निपातस्य एष पर विधिः स्मृतः॥
एवं ज्येष्ठस्य विज्ञेयस्तालालिविकल्पितः॥194॥

प्रथमः षोडशकलः चतुर्विशतिकस्तथा॥
द्वितीयश्च तृतीयश्च सन्निपातः कलाधिकः॥195॥

प्रत्येकं पातनं येषु दश सप्त भवन्ति हि॥
शम्या तालमृतानीह सन्निपातकृतानि च॥196॥

अर्थात्– तीसरे सन्निपात की ताल क्रिया के भी नियम इसी तरह के कहे गए है। इस प्रकार ज्येष्ठ आसारित के अंतर्गत अंगुलियों से ताल दर्शने के भी यही नियम होते है। इसमें प्रथम सन्निपात की सोलह कलाएं होती है। दूसरें सन्निपात में चौबीस कलाएं और तीसरें सन्निपात में इन दोनों से भी अधिक कलाएं अपनी इच्छानुसार बढ़ा सकती है। इस नियम की नियुक्ति

के हर एक क्रिया में दस या सात खण्ड होते है। जिसकी उत्पत्ति शम्या, ताल और सन्निपात को जोड़ देने से होती है।

वस्तुन्याये ह्यज्येष्ठेसु द्वे चान्ये पूर्ववद् योज्ये ॥
षटकशम्याष्टतालं त्रिसन्निपातं त्रिवस्तु चाप्येवम् ॥197 ॥

सप्तदशपातनयुक्त विद्यादासारितं सम्यक् ॥
अष्टौ तालास्तु षट् शम्या सन्निपातास्त्रयस्तथा ॥198 ॥

अर्थात्– कनिष्ठ तथा मध्यम आसारित की पहली वस्तु में पहले जैसी दो वस्तुओं को और मिला लिया जाए, तो उनसे जो तीन वस्तुएं बनती है, वह आसारित छः शम्याओं, आठ तालों तथा तीन सन्निपात के योग से यह सत्रह पातों वाली आसारित बन जाती है।

आसारिते विधौ ह्येष एकैकस्मिन् प्रकीर्तितः ॥
आसारितानामित्येवं गदितं लक्षणं मया ॥199 ॥

गीतानां वस्तुकानाञ्च प्रयोगः परिकल्पयते ॥
अत ऊर्ध्वे प्रवक्ष्यामि गीतकानान्तु लक्षणम् ॥200 ॥

अर्थात्– प्रत्येक आसारित के अंतर्गत आठ ताल, छः शम्या तथा तीन सन्निपात की व्यवस्था रखनी चाहिए। इस तरह से आसारित के यह लक्षण होते है, जो यहां बताए गए है। इसके पश्चात भरत मुनि ने इस श्लोक में गीतों तथा वस्तुओं के अंग में उपयोग होने के नियम के पश्चात गीतों के लक्षण बतलाने की बात कही है।

सर्वेषामेव गीतानां वस्तुष्ववयवेषु च ॥
विवधैककवृत्तानि त्रीण्यङ्गानि भवन्ति हि ॥201 ॥

अर्थात्–वैसे तो सभी तरह के गीतों में वस्तु या गीत के संदर्भ में अंग (अवयव) होते है, परन्तु त्तवज्ञ व्यक्तियों द्वारा उन्हें विवध, एकक और वृत नामक तीन अवयवों के रूप में आकृष्ट किया जाता है।

एककं तु विदार्यैका द्वे चापि विवधः स्मृतः ॥
षटपरं त्र्यवरं वृत्तं विदार्यः परिकीर्तिताः ॥202 ॥

अर्थात्|– इसमें एक खण्ड़ में एकक होता है। विवध में खण्ड़ (विदारी) और वृत्त में कम से कम तीन खण्ड़ और ज्यादा से ज्यादा छः खण्ड़ (विदारी) होते है।

पदवर्णसमाप्तिस्तु विदारीत्यभिसंज्ञिता ॥
न्यासापन्यासमंशान्तं वस्तु त्तपरिकीर्तितम् ॥203 ॥

अर्थात्– इस श्लोक में विदारी के लिए भरत मुनि द्वारा कहा गया है, कि जो गीत खण्ड़, पद या वर्ग पर समाप्त होता है, उसे विदारी कहते है तथा जो गीत न्यास या अपन्यास तथा अंश पर पूर्ण हो, वह वस्तु कहलायेगा।

विदारयति यस्माद्धि पदमध्यस्वरा यदा ॥
तदा विदारी विज्ञेया गुरुवर्णान्नुकारिणी ॥204 ॥

अर्थात्– पदों और मध्य–वर्ती खरों का बीच से खण्ड़ करने के कारण **अर्थात्** विदारण करने से यह विदारी कही जाती है। इससे गुरू वर्णो का अनुमान होता है।

विवधैकयोः प्रायः मद्रके तु प्रयोजनम् ॥
प्रकर्याश्चापि वस्त्वर्धे पादे रोविन्दकस्य च ॥205 ॥

रोविन्दकोत्तराभ्यान्तु वृत्तमुल्लोप्यके तथा ॥
पाणिकायां बहिर्गीते लास्ये चैव प्रकीर्तितम् ॥206 ॥

अर्थात्– सामान्यतः विवध तथा एकक का प्रयोग मद्रक गीतों में ही किया जाता है। अवस्था करने के हर एक वस्तु के अर्धभाग तथा रोविन्दक के पदों में प्रयोग होता है, किन्तु रोविन्दक उतर प्रयुक्त में उल्लोख्यक में पाणिक, बहिर्गीत में तथा लास्य में विशेष रूप में निर्मित के लिए 'वृत' का उपयोग होता है।

प्रवृत्तमवगाढव द्विविधं वृत्तमुच्यते ॥
आरोहित्वादषगाढं प्रवृत्तमवरोहतः ॥207 ॥

अर्थात्– प्रवृत और अवगाढ़ नामक वृत गीत के दो प्रकार हुआ करते है। गीत में आरोही क्रम होने पर अवगाढ़ और अवरोही क्रम होने पर प्रवृतक वृत्त होती है।

आरोहणं तु द्विविधं तथा चैवावरोहणम् ॥
न्यासापन्यासविहितं मार्गान्तरकृतं तथा ॥208 ॥

अर्थात्– अरोह के भी दो भाग होते है, बल्कि इसमें वृत्तों का चयन करने का योग स्थित होता है। अतः अवरोह, आरोह, आरोहण मूलतः दोनों के दो प्रकार होते है। क्रमशः इन दोनों

का मूल वृत ही हुआ करता है। इसमें पहले को न्यास, अपन्यास स्वरों के माध्यम से तथा दूसरे को मार्ग के अन्तर अर्थात् अन्तरमार्ग के नियम के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है।

त्र्यवरैकादशपरा विदार्यः परिकीर्तिताः॥
चतुर्विंशतिरेतासां प्रमाणं परमं स्मृतम्॥209॥

अर्थात्– एक गीत के अंर्तगत कम से कम तीन विदारियां होती है और अधिक से अधिक ग्यारह विदारियां रखी जाती है। परन्तु किसी विशिष्ट स्थिति में इनकी संख्या ज्यादा बढ़ायी भी जाती है। जो अधिक से अधिक चौबीस विदारियों तक की ही हो सकती है।

अध्यर्धा च तृतीयाञ्च सन्निपातात् प्रमाणतः॥
उल्लोप्यके विदारी तु स्मृता वैहायसे तथा॥210॥

विवधेन च ताः कार्या युग्मवृत्तेन चैव हि॥
न ह्यर्धे सन्निपाते तु भवेदङ्गसमापनम्॥211॥

अर्थात्– यह सन्निपात की तीसरी आवृत्त्ज्ञि में आधी–आधी विदारी बढ़ जाती है किन्तु उल्लोटयक और वैहायस्क की अवस्था में विदारी की गिनती आधी हो जाती है। इनका उपयोग विवध और दो गुने वृत ;युग्मवृतद्ध के साथ रखना चाहिए। इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि इसकी समाप्ति के साथ सन्निपात के आधे भाग के साथ अंग का उपयोग नहीं होता है।

विवधस्त्रिविधो ज्ञेयः कीर्त्यमानान् विबोधत॥
सामुद्र श्चर्धसामुद्रो विवृत्तश्चेति कीर्तितः॥212॥

अर्थात्– भरत मुनि ने विवध के तीन भेंद (प्रकार) बतलाए है–1)सामुद्र, 2)अर्धसामुद्ग, 3) विहत।

न्यासान्तो विवधो ज्ञेयो युक्त्वा वै गेयकं सदा॥
आदौ तु मद्रके चैव सामुद्गः परिकीर्तितः॥213॥

अर्थात्– गेयक की स्थिति के अतिरिक्त किसी और अवस्था में न्यास स्वर पर पूरा होने वाला विवध कहा जाता है और मद्रक के प्रारम्भ में होने वाला समुद्रक कहलाता है।

लघुवर्णसमं गेयं सामुद्गे तु विधीयते॥
त्तवन्ते च तृतीये च तद् वै गेयकसंज्ञितः॥214॥

अर्थात्– समुद्रक में जिस गेयक का प्रयोग किया जाता है। वह लघु वर्णों के योग से पूर्ण होता है या करना चाहिए तथा यह तीसरी विदारी के आखिर में होने के कारण गेयक कहा जाता है।

विदार्यङ्गसमोऽथ स्याद् अर्धे विसदृशं यथा॥
योगे तु अर्धसामुद्गः तथा ज्ञेयः प्रयोक्तृभिः॥215॥

अर्थात्– अगर उपयोग में एक विदारी के आधे भाग के जैसा दूसरा भाग हो और उसका आगे का अर्धभाग, खण्डद्ध पहले के समान न हो तो वह अर्धमुद्रक कहा जाता है।

विदारी विषमा ज्ञेया न्यासापण्यांस एव च॥
त्तसम्प्रयोगबाहुल्यं विवृत्तं परिकीर्तितम्॥216॥

अर्थात्– यदि विदारी न्यास और अपन्यास में अलग–अलग रूप में हो तथा उसके प्रयोग की अत्याधिक अवस्था भी रहे तो वह विकृत कहा जाता है।

विविधश्चौककश्चापि वृत्तं चैव यथाक्रमम्॥
न्यासापन्यासमंशान्तं सदा ज्ञेयं प्रयोक्तृभिः॥217॥

अर्थात्– विवध, एकक और वृत की समाप्ती हमेशा न्याास, अपन्यास तथा अंश पर होती है।

सम्यासश्चौव विन्यासो ह्यङ्गमध्यों यथाक्रमम्॥
न्यासः स तु विशेयो विदारीमध्यमस्थितः॥218॥

अर्थात्– सन्यास और विन्यास स्वर हमेशा अंग के बीच के भाग में रखे जाते है तथा विन्यास विदारी के मध्य भाग में उपस्थित माना जाता है।

विदारी वज्रविन्यासः पदान्ते क्वचिदेव हि॥
न तद्वाहुल्यमुद्दिष्टं प्रयोगस्य प्रयोक्तुभिः॥219॥

अर्थात्|– विदारी शब्द के आखिर में कभी–कभी गायक विन्यास स्वर का प्रयोग करते है। किन्तु नाटक में बहुत से नाट्य–प्रणेता इसका प्रयोग उचित नहीं मानते है।

गीतानि सप्त मद्रकोल्लोप्यके चापरान्तकम्॥
प्रकर्योवेणके चैव रोविन्दकमथोत्तरम्॥220॥

अर्थात्– परम्परा से चले आ रहे गीत के सात प्रकार है। जो क्रमशः 1ःमद्रक, 2ःउल्लोप्यक, 3ःअपरान्तक, 4ःप्रकारी, 5ः ओवेणक, 6ःरोविन्दक और 7ःउतर।

द्विविधं मद्रकं तत्र चतुर्वस्तु त्रिवस्तु च॥
शीर्षकेण समायुक्तं तत्तु ज्ञेयं त्रिवस्तुकम्॥221॥

अर्थात्– सप्तगीतों में प्रथम गीत भाग मद्रक के भी दो भाग प्रकार होते है। एक, तीन वस्तु से रचित तथा दूसरा भाग चार वस्तु से बनता है। जिस मद्रक में तीन वस्तु हो वह शीर्षक में समाया हुआ होता है। अर्थात् तीन शीर्षक के योग से वह वस्तुक रूप में माना जाता है।

पञ्च षट् सप्त वापि स्युः शीर्षकाण्यपरान्तके॥
प्रकर्यामथ चत्वारि स्युस्त्रीण्यर्थादिकानि च॥222॥

अर्थात्–पांच, छः और सात शीर्षक से निर्मित गीत प्रकार को अपरान्तक कहा जाता है। प्रकरी गीत में चार–तीन और अधिक शीर्षक का उपयोग भी इसकी आकृति को अधिक प्रभावित करने के लिए बताए जाता है।

रोविन्दकन्तु सप्ताङ्गं षोडशाङ्गं परं स्मृतम्॥
द्वौ पादौ समर्वौं तु एकके तत्र कीर्तितौ॥223॥

अर्थात्–रोविन्दक गीत में कम से कम सात अंग और ज्यादा से ज्यादा सोलह अंगों से निर्मित होना चाहिए और इसमें जो एकक निर्मित होता है उसमें समान वर्णों के दो पद से व्यवस्थित होता है।

प्रवृत्तं विविधञ्चापि तस्य त्वादी प्रयोजयेत्॥
त्तो देहं त्तोऽङ्गानि यथायोगं निवेशयेत्॥224॥

अर्थात्– रोविन्दक के आरम्भ में प्रकार्य और विवध की नियुक्ति कई ढ़ग से की जाती है। और उसके पश्चात इसके काया या शरीर और अंग को पूर्ण रूप में नियोजित करते हुए, उपस्थित किया जाता है।

आकारश्चास्य मध्ये स्यादाकारश्चान्तः स्मृतः॥
अविकल्पकमन्तेऽस्य शीर्षकं सम्प्रयोजयेत्॥225॥

अर्थात्– इस श्लोक में बताया गया है, कि इस गीत प्रकार के बीच 'आकार' अर्थात् 'आ' की ध्वनि नियुक्त करनी चाहिए और उसके समाप्ती में भी इसी तरह से 'आ' की ध्वनि अर्थात् आकार का उपयोग होना चाहिए और इसके अन्त के भाग में शीर्षक की योजना करनी चाहिए।

सप्ताङ्गं द्वादशाङ्गं वा प्रोक्तमोवेणकं बुधैः॥
तत्र द्वयङ्गन्तु सप्ताङ्गं त्र्यङ्गं द्वादशकं स्मृतम्॥226॥

अर्थात्—ओवेणक की नियुक्ति सात तथा बारह अंगों द्वारा होती है। इनमें जो सात अंगों वाला ओवेणक है, उसकी समाप्ती दो अंगों में होती है। और जो बारह अंगों वाला है। उसकी समाप्ती तीन अंगों में होती है। इसलिए इसके सप्तांग को दुयंअंग कहा है। द्वावशांग को त्र्यअंग भी कहा जाता है।

पादः सन्धिर्माषघातो वज्रं सम्पिष्टकं तथां॥
शीर्षक चतुरस्त्रञ्च तथा चैवोपवर्तनम्॥227॥

उपपातः प्रवेण्यौ च द्वयङ्गं संहरणं तथा॥
अङ्गानि द्वादशाङ्गस्य स्मृतान्योवेणकस्य तु॥228॥

अर्थात्—ओवेणक को बारह अंगों में विवक्त किया है, क्रमशः 1ःपाद, 2ःसन्धि, 3ःमाषघात, 4ःवज्र, 5ःसम्पिष्ठक, 6ःशीर्षक, 7ःचतुरस्त्र, 8ःउपवर्तन, 9ःउपपात, 10ःप्रवेणी, 11ःदूंयग, तथा 12ःसंहरण।

सम्पिष्टकोपपाताभ्यां प्रवेणीभ्यां विवर्जितम्॥
उपवर्तनहीनञ्च सप्ताङ्गमपि कीर्तितम्॥229॥

अर्थात्—ओवेणिक के बारह अंगों में से जब सम्पिष्टक उपपात प्रवेणी के दो अंग और उपवर्तन। इन चार अंगों को छोड़कर बाकी बचे अंगों वाले ओवेणिक को सप्तांग ओवेणक कहलाता है।

विवर्तन्नतु सप्ताङ्गं तुल्यवर्णपदं स्मृतम्॥
अनयोर्द्वदशाङ्गे तु तथान्यपदमिष्यते॥230॥

अर्थात्— वर्ण और पदों के योग से सप्तांग दोनों ओवेणक में एक जैसा होने के कारण वह विवर्तन कहा जाता है तथा जब बारह अंगों (द्वादशागें) वाले ओवेणक के भाग में पाद असमानता लिए हुए हो, तो कोई और पद होता है अर्थात् विवर्तन के जैसे यह वर्ण और पदों के योग से सप्तांग (सात अंगों वाले औवेणक) में एक जैसे रूप में नहीं होते है।

उल्लोप्यकेऽपि चाङ्गानामेष एव विधिः स्मृतः॥
अवगाढं प्रवृत्तञ्च महाजनिक—मेव च॥231॥

त्र्यङ्गस्तु स्यात्तथा द्वयङ्गो महाजनिकवर्जितः॥
स्थित—प्रवृत्तसंयोगादेकाङ्गो वापि कीर्त्यते॥232॥

एकाङ्गे संविधातव्यं महाजनिकमेव च ॥
द्वयङ्गं स्थितं प्रवृत्तं वाप्येककाङ्गं प्रकीर्तितम् ॥233॥
द्वयङ्गे व्याससमासाभ्यां ध्रुवाधातुविधिः स्मृतः ॥

अर्थात्–ओवेणक की तरह ही उल्लोप्यक गीत में भी अंगों का नियोजन रहता है। उल्लोप्यक गीत प्रकार के अंगों की नियम, इस तरह से होती है। इसके तीन अंग अवगढ़, प्रवृत और महाजनिक। इसमें महाजनिक अंग का उपयोग इसमें कम देने पर यह तीन अंगों की तुलना में दों अंगों का ही रह जाता है। तथा इसमें प्रवृतक के योग के साथ स्थित में रखा जाए तो यह उल्लोप्यक गीत कहलाता है। केवल महाजनिक अंग का उपयोग करके भी इसको एकांग उल्लोप्यक बनाया जा सकता है और स्थित तथा प्रवृतक अंग के योग से यह दूयंग उल्लोप्यक भी हो जाता है। और स्थित तथा प्रवृतक इन अंगों में से केवल एक अंग का उपयोग करके इसे एकांगी उल्लोप्यक भी कहा जा सकता है। द्वयंग उल्लोप्यक में ध्रुवा तथा धातुओं को व्यास और समास पद्धति के अनुसार भी रखा जाता है।

स्थितं प्रवृत्तञ्च तथा महाजनिकमेव च॥234॥
त्र्यङ्गस्तु स्यादथ द्वयङ्गो महाजनिकवर्जितः ॥
एकाङ्गोऽपि विधातव्यो महाजनिकसंयुतः ॥235॥

अर्थात्–उल्लोप्यक गीत के तीन अंग है– स्थित प्रवृत तथा महाजनिक। इन सभी के योग से त्र्यंग उल्लोप्यक होता है। उल्लोप्यक गीत के इन तीनों का उपयोग करते हुए, गीत का समापन किया जाता है। इसमें महाजनिक अंग का प्रयोग दो अंगों के उपयोग समय वर्जित है। अतः महाजनिक गीत अंग किसी भी गीत प्रकार का केवल एक ही अंग होता है। तथा उसमें एक ही अंग से संबन्धित होता है।

एवं व्यास–समासाभ्यां बहुधाङ्गविधिः स्मृतः ॥
चतुरस्रस्तथा त्र्यस्त्रो मिश्रश्चान्तः प्रकीर्तितः ॥236॥

अर्थात्–इसके अतिरिक्त यह अनेक अंगों से सम्बन्धित होकर बहुत से अंगों वाले गीत बन जाते है। इनसें उल्लोप्यक के चतुरस्त्र, त्र्यस्त्र तथा मिश्रित नाम के प्रकार होते है।

ओवेणकस्य संहारो द्वयन एकाङ्ग एव च ॥
नादौ न मध्ये संहारों नित्यं चौव प्रयुज्यते ॥237॥

अर्थात्– ओवेणक का संहार अर्थात् संहरण दो या एक अंग वाला होता है और इस ओवेणक गीत के संहरण को प्रारम्भ करते हुए, सदैव इस बात का ज्ञान होना चाहिए कि इसका उपयोग समापन या मध्य में न हो।

एकको विवधो वापि कार्यो ह्यन्ते बुधैः सदा॥
उल्लोप्यकं षडवरं विशत्यङ्गपरं स्मृतम॥238॥

अर्थात्– एकक अथवा विवध का प्रयोग हमेशा समाप्ति में ही करना चाहिए। ऐसे उल्लोप्यक में कम से कम छः अंगों को तथा अधिक से अधिक बीस अंगों को रखना चाहिए।

तत्र संहरणं ज्ञेयं मुख–प्रतिमुखान्वितम् ॥
वैहायसक–संयुक्तं तेनापि च विवर्जितम्॥239॥

त्रिष्वङ्गेष्वपरं ज्ञेयं परं स्याद् द्वादशस्वपि॥
एकाड्ग षट्परं ज्ञेयं वैहायसकमेव तु॥240॥

अर्थात्– इस अंग में संहार का कार्य मुख और प्रतिमुख के माध्यम से करना चाहिए तथा यह वैहासयक के साथ या उसके अलावा भी किया जाता है। ज्यादातर वैहासयक संयुक्त करने पर, इसमें उसके अंग वर्जित कर दिए जाते है। उस वक्त इसमें तीन अंग कम से कम और बारह अंग अधिक से अधिक रखे जाते है। इनमें तीन अंगों वाला अवर होता है और बारह अंगों वाला पर कहलाता है। वैहायसक में कम से कम एक अंग और अधिक से अधिक बारह अंग होते है। इसके प्रारम्भ तीन अंगों वाला वैहासयक होने पर होता है।

अस्य चाङ्गत्रयेऽतीते प्रयोगमुपपादयेत्॥
उल्लोप्यकोत्तराभ्यान्तु मुखप्रतिमुखे स्मृते॥241॥
त्तोऽङ्गानां समासो वा विस्तरो वा विधीयते॥

अर्थात्–इनमें तीन अंगों का गान होने के बाद प्रयोग प्रारम्भ होता है। यह मुख तथा प्रतिमुख अंग उल्लोप्यक और उत्तर के लिए इष्ट है तथा उस समय अपनी आवश्यकता के अनुसार अंगों का विस्तार किया जा सकता है।

मुखप्रतिमुखे चैव ज्ञेये विवधसंज्ञिते॥242॥
वृत्तं प्रतिमुखे च स्यादन्ययोस्तु समासतः॥

उल्लोप्यके तु शाखाख्यं सोत्तरे चापरान्तके॥243॥
प्रतिशाखा तथा चैषां समवर्ण–पदा स्मृता॥

अर्थात्–मुख और प्रतिमुख की संज्ञा अलग–अलग नाम से पहचानी जा सकती है। वृत का उपयोग प्रतिमुख में होता है। और उल्लोप्यक में अलग अंगों का भी प्रयोग किया जा सकता है। उल्लोप्यक में शाखा और उतर तथा अपरान्तक में प्रतिशाखा की जाती है। इसमें भी दूसरें पदों की तरह वर्णों का उपयोग किया जाता है।

उत्तरं द्वादशपरं षडङ्गावरमिष्यते ॥244॥
आकारपदहीनेन सह रोविन्दकेन तु ॥
अन्ते चाथ विशेषेण स्थाप्यमस्य हि शीर्षकम् ॥245॥

अर्थात्– उतर गीत प्रकार में कम से कम छः अंग होते है और अधिक से अधिक से बारह अंग होते है। और इसमें भी रोविन्दक की पात के तरह आकार का उपयोग नहीं होता। इसके समाप्ति और मध्य में शीर्षक को रखा जाता है।

एवमङ्गविधिः कार्यः सप्तरूपे प्रयोक्तृभिः ॥
अतऊर्ध्वे प्रवक्ष्यामि गीतानां वस्तुकल्पनम् ॥246॥

अर्थात्– इस तरह से सप्तगीतों के अंगों के उपयोग विधि का कार्य पूर्ण होता है। तथा भरत मुनि द्वारा इस श्लोक में आगे इन गीतों की स्थित वस्तु का प्रमाण बतलाने की बात कही है।

कलाः षोडश विज्ञेया मात्राः सर्वेषु वस्तुषु ॥
तस्याश्चौव चतुर्भागः पादभागः प्रकीर्तितः ॥247॥

अर्थात्– इसी तरह से वस्तुओं में सोलह भाग मात्रा की कला जान्री चाहिए तथा इसके चौथा हिस्सा एक पाद भाग होगा।

आदौ गुर्वष्टकं कृत्वा न्यसेल्लध्वष्टक तथा ॥
तत्रोपवहनं कार्ये प्रथमे तु गुरुद्वये ॥248॥

गुर्वक्षरे तृतीये तु त्तः स्यात् प्रत्युपोहनम् ॥
गुर्वक्षरे चतुर्थे तु शम्या कार्या तु पञ्चमे ॥249॥

षष्ठसप्तमयोस्तालः शम्या गुर्वक्षरेऽष्टमे ॥
त्तोऽष्टकलिकान् पादान् कुर्याल्लध्वक्षरेषु च ॥250॥

अर्थात्– भरतमुनि द्वारा गीतों के वस्तु के बारे में बतलाते हुए कहा है, कि सर्वप्रथम आठ गुरू और बाद आठ लघु होते है। आरम्भ के दो गुरू से उपोहन क्रिया की जाती है और तीसरे गुरू प्रयोग से प्रत्युपोहन किया जाता है। चौथे तथा पांचवे गुरू में शम्या का प्रयोग

होता है। तथा छठें और सातवें में ताल तथा अन्त में आठवें गुरू में शम्या का उपयोग किया जाता है। यह आठ गुरू वर्ण के प्रारम्भ में किया जाता है। उसके पश्चात आठ कलाओं के लघु अक्षरों का एक पाद सम्पादित करना चाहिए।

गुर्वक्षरे तालगते पादास्तु कलिकाः स्मृताः॥
शम्यातालौ तालशम्ये कुर्याद् द्वे वानुपूर्वशः॥251॥

तालं शम्याश्च तालश्च सन्निपातं तथैव च॥
शीर्षकञ्चास्य कव्यं बुधैश्चापपुटेन तु॥252॥

एवमेककलो ज्ञेयस्तालयोगस्तु मद्रके॥
गुरुर्विश्लेषपादेन द्विकलं परिचक्षते॥253॥

अर्थात्– गुरू अक्षरों के तालगत में उपस्थित तालों का एक सम्पूर्ण कला का साक्ष्य होता है। गुरू वर्णों में कलाओं की पात कला करने के नियम इस प्रकार है–शम्या, ताल, ताल, शम्या, ताल, शम्या, ताल और सन्निपात किया जाता है। इसका शीर्षक चाचपुट के अंर्तगत इसी तरह से करना चाहिए। मद्रक गीत में एक कला के योग में तालों का यही विधान या पद्धति होती है। इन्हें कलाओं की स्थिति का नियम इस प्रकार कहा जाता है, कि जब एक पाद में गुरू अक्षरों को स्थित या अंतर किया जाता है, तो दो कला के आधार को देख कर उसी के माध्यम से होता है।

विश्लेषण कलाश्चात्र यथापूर्व निवेशयेत्॥
द्विकले मद्रके चैत्र त्रिकलं स्यादुपोहनम्॥254॥

कलिका द्विकलं वापि भवेश्च प्रत्युपोहनम्॥
विकलैर्गुवक्षरकृतेः पादभागैर्यथाक्रमम्॥255॥

अर्थात्– इनमें विश्लेषण या अन्तर होने के पश्चात् दो कलाओं वाले मद्रक गीत में तीन कला का उपोहन करना चाहिए तथा प्रत्युपोहन दो कलाओं का अथवा एक कला का होना चाहिए या करना चाहिए। यह दो कलाओं के गुरू वर्णो के आधार पर रचित पादभागों के माध्यम से करनी चाहिए।

चतुर्भिस्तु भवेन्मात्रा त्रिमानं वस्तु संज्ञितम्॥
त्रिवस्तु द्विकलं ज्ञेयं पाते पातविधिस्त्वयम्॥256॥

अर्थात्– इनमें चार कलाओं के योग से एक मात्रा तथा तीन मात्र्ााओं के मिलान से एक वस्तु की उत्पत्ति होती है तथा हर एक तीन वस्तुओं से दो कलाओं की अवस्था की जाती है। पाद पात के लिए यही विधि जरूरी है।

गुर्वक्षरेषु ये पाताः शम्यातालादयः स्मृताः॥
तानेव पादभागेषु द्विकलेष्वत्र योजयेत्॥257॥

अर्थात्– शम्या तथा ताल के गुरू वर्णों के द्वारा होने वाली पात क्रिया बतायी है। वही पात क्रिया द्विकल पाद भागों में प्रयोग की जाती है।

अष्टमी षोडशी शम्या दशमी च यथाक्रमम्॥
चतुर्दश्यां कलायान्तु तालं वै द्वादशीयुतम्॥258॥

अर्थात्– प्रस्तुत श्लोक में भरत मुनि द्वारा बताया गया है, कि आठ लघु वर्णों पर होने वाला पात नियम इस प्रकार है, कि आठवें, दसवें और सोलहवें लघु पर शम्या तथा बारहवें और चौदहवें पर ताल किया जाता है।

लध्वष्टके पातविधियथापूर्व प्रकीर्तितम्॥
वस्तुत्रयेऽपि द्विकले एवं पातान प्रयोजयेत्॥
शीर्षक व कर्त्तव्यं षटकलं पञ्चपाणिना॥259॥

अर्थात्–जो पात विधान पहले आठ लघु वर्णो में कही गयी है। वही पात विधान दो कला की तीन वस्तुओं में वर्णित होता है और छः कलाओं से होने वाला शीर्षक पंचपाणि के रूप में किया जाए।

कंडं कंडं शैलेन्द्रराजसंस्थितमीशं शान्तं शिवं पन्नगेन्द्रपरिबद्ध–जटम्॥
मुनिगणनमितं ध्यानाभिरतं ज्ञानमयं मदनाङ्गहरं विभुं प्रभुम् शरणागतोऽहम॥

दैत्यै गैः संस्तुतमीशं त्वां वेदमयं त्वां कर्तारं भुवनपति सर्व–लोक–नमस्कृतम्॥
ऋग्यजुःपरिपठितं गङ्गाधरं शूलवरं भुजगेन्द्रधरं प्रणतोऽस्मि शिवं
मृगराजचर्मपरिवद्धतनुम्॥ विपुलगति ज्वलनशिखिसदृश–कपि–लजटं तमहं
नमामि शिवं शिरसा॥ समाप्तं द्विकलं मद्रकम्॥
देवं विमलं प्रणतातिहरं मायाधारं मायारूपं जटिलं नमामि शिवं शिरसा॥
शीर्षकं षटकलं समाप्तम्॥ द्विकलमद्रकम्॥

प्रस्तुत श्लोकों में भरत मुनि देवादिदेव महादेव के शिव रूप की स्तुती व उपासना करते है और उन्हें प्रणाम करते हुए, उनके सुन्दर स्वरूप का वर्णन करते है। भरत मुनि कहते है वह पार्वती पति जो कैलाश पर्वत में निवास करते है जिनके गले में वासुकि वास करते है और जिनके मस्तक पर गगां विराजमान है व हाथ में त्रिशूल है और सिंह के चर्म को धारण करें है। व अग्नि के समान जिनकी जटाएं है। जिनकी स्तुती सभी देव तथा दैत्य करते है उन शिव की मैं वन्दना करता हुँ। दो कलाओं में होने वाले मद्रक गीत को शिव स्तुति के साथ सम्पूर्ण किया है।

चतुकलं प्रवक्ष्यामि यथावद् द्विजसत्तमाः॥
चतुष्कलैः पादभागैर्यथापूर्वमुदाहृतैः॥260॥

अर्थात्—भरत मुनि द्वारा इस श्लोक के अंर्तगत कहा गया है कि चतुष्कल मद्रक गीत के लक्षणों का करूंगा, जो चार कलाओं के पाद भागों में सम्मिलित है।

चतुर्भिस्तु भवेन्मात्रा त्रिमात्रं वस्तु संज्ञितम्॥
पाताश्चौव प्रवक्ष्यामि पादभागे यथाक्रमम्॥261॥

अर्थात्—चार कला के द्वारा एक मात्रा निर्मित होती है तथा तीन मात्राओं से एक वस्तु। भरत मुनि के द्वारा प्रस्तुत श्लोक में उनके पाद मार्गो होने वाली पात क्रिया को क्रमानुसार बतलाता हुं।

चतुर्थ पञ्चमेऽन्त्ये च शम्या कार्याष्टमे तथा॥
दशमैकादशे शम्याऽद्वितीया नवमे स्मृता॥262॥

षष्ठे च सप्तमे ताल अन्स्ये व नवमेऽस्य हि॥
दशमैकादशे चैव द्वितीयः समुदाहृतः॥263॥

अर्थात्—एक वस्तु पाद मार्गो की पात क्रिया को बतलाते हुए कहा है, कि प्रथम वस्तु में शम्या को अन्त में रखना है और चौथी, पंचवी, आठवीं, दसवीं और ग्याहरवीं। इन सभी कलाओं में तथा पहली तथा नवीं कलाओं पर शम्या होनी चाहिए तथा छठी, सांतवी, नवीं और आखरी कला पर ताल दर्शाया जाए और दसवीं कला में आरम्भ और सांतवी कला के आरम्भ में भी ताल होना चाहिए।

आद्यन्तु द्वादशे प्रोक्तं सन्निपातोऽवसानतः॥
एवं पातविधानं स्यात् सर्वे वस्तु प्रयोजयेत्॥264॥

अर्थात्—इसी प्रकार द्वादश कला के आखिर और सभी के प्रारम्भ में सन्निपात होना चाहिए। सभी वस्तुओं की पात क्रिया यही विधि प्रयुक्त होती है।

प्रथमे वस्तुके ह्यादौ कलाष्टकमुपोहनम॥
प्रत्युपोहनमित्युक्तं द्वितीये द्विकलं भवेत॥265॥

अर्थात्—प्रारम्भ की आठ कलाओं के आधार पर प्रथम वस्तु में उपोहन क्रिया होती है तथा दो कलाओं द्वारा द्वितीय वस्तु में प्रत्युपोहन क्रिया होती है।

तृतीये विकलं ज्ञेयं चतुर्थे तु चतुष्कलम्॥
अस्यान्ते शीर्षकं कार्य षट्पितापुत्रकेण तु॥266॥

अर्थात्—इसी प्रकार प्रत्युपोहन की क्रिया तीन कलाओं के द्वारा तीसरी वस्तु में की जाती है और चौथी वस्तु में चार कलाओं के प्रत्युपोहन किया जाता है तथा आखिर में शीर्षक किया जाता है जो षट्पितापुत्रक द्वारा पूर्ण होता है।

द्विकले तु यथापातं पञ्चपाणिचतुष्टयम्॥
द्विगेयकं तृतीये व चतुर्थे च यथाक्रम॥267॥

अर्थात्—दो कला की वस्तु में चार यथाक्षर पंचपाणि से सम्बद्ध रखे जाते है। तथा चौथे में दो गेयक को निर्मित किया जाता है।

परिवर्तसमाप्तिस्तु चतुर्थे संविधीयते॥
मद्रांशोपोहनं वस्तु प्रथमच द्वितीयकम्॥268॥
चतुर्थस्तु त्रिप्रमाणं यस्मतालसमुद्भवम्॥

अर्थात्—चौथी वस्तु के आखिर में घुमाव होता है। पहली और दूसरी वस्तु में उपोहन क्रिया की जाती है। तथा उसमें मद्रक गीत का भाग आता है। इस तरह से चौथी वस्तु में तीन अलग–अलग साक्ष्य के साथ त्र्यस्त्रताल में उपयोग होता है।

द्विर्भावाद् द्विकलस्यैवं विज्ञेयं तु चतुष्कलम्॥269॥
सप्तमे लघुनि त्वन्त्ये द्विर्भावोऽस्मिन् विधीयते॥
चतुष्कलोऽन विहितः कलाष्टकमुपोहनम्॥270॥

अर्थात्— दो कला वाली वस्तु को दो बार दोहराने से वह चतुष्कल वस्तु कही जाती है। तथा इस विधान से उस पद में आठ वर्णों का उपयोग विहित होता है। इसका सांतवां वर्ण लघु

होता है। और इसी पर चतुष्कल वस्तु का उपयोग किया जाता है। उसमें ही आठ कला का उपोहन किया जाता है और दो या चार कलाओं का प्रत्युपोहन होता है।

एका द्वे च चतुष्कश्च तथा स्यात् प्रत्युपोहनम्॥
यथाक्षरस्तु कर्त्तव्यं मद्रकस्य तु शीर्षकम् ॥271॥

चतुष्कलः पञ्चपाणिः द्विकले द्विकलः स्मृतः॥
चतुष्कलस्तु कर्त्तव्यो मद्रके तु चतुष्कले॥272॥

अर्थात्—साधारणतः मद्रक गीत के शीर्षक में प्रथम द्वितीय और चतुर्थ अक्षर उसके अनुसार जो सहित महसूस हो उस तरह का उपोहन निश्चित रख लेना चाहिए इस तरह से मद्रक गीत को यथाक्षर 'चतुष्कल' रूप पंचपाणि ताल में होता है इसी ताल में चार कलाओं के रूप में जाना जाता है। इस प्रकार चतुष्कल मद्रक का क्रम चार कलाओं के माध्यम से पूर्ण होता है।

त्रिवस्तु त्रिप्रमाणं तु यत्रतालसमुद्भवम्॥
इत्युक्तं मद्रकं पातैखयोदशभिरन्वितम्॥273॥

अर्थात्— इस तरह के उपयोग से तीन वस्तुओं, तीन मापों का प्रयोग त्र्यस्त्र ताल में होता है। इस तरह मद्रक गीत के निपात तेरह स्थान अलग—अलग भेंदों से पूर्ण होता है।

गुर्वक्षराणि चत्वारि चत्वारि स्युर्लघूनि च॥
द्वितीये गुरुके शम्या तृतीये ताल एव च॥274॥

तृतीये च चतुर्थे च शम्यातालौ लघून्यपि॥
तालं शम्याञ्च ताले च सन्निपातश्च योजयेत्॥
लध्वक्षरैरष्टकलिकान् पातानेतान् प्रयोजयेत्॥275॥

अर्थात्—अपरान्तक गीत के अंतर्गत चार लघु तथा चार गुरू होते है। इसमें दूसरे गुरू पर शम्या तथा तीसरे गुरू पर ताल क्रिया होती है। इस तरह से तीसरे और चौथे लघु पर शम्या और ताल रखी जाती है। इसके बाद इसमें शम्या, ताल तथा सन्निपात को स्थापित करते हुए तथा लघु अक्षरों की स्थित आठ कलाओं के माध्यम से निधारित किए गए पातों को स्थापित किया जाता है।

तालः शम्या च तालश्च सन्निपातोऽन्त्य एव च॥
त्र्यस्त्रतालसमुद्भूतं विज्ञेयमपरान्तकम्॥276॥

अर्थात्—जिस गीत में ताल, शम्या ताल और आखिर में सन्निपात के आधार पर प्रयोग करते हुए तथा त्र्यस्त्र ताल में उत्पत्ति होती है, वह गीत अपरान्तक कहलाता है।

गुर्वक्षराणि विश्लिष्य द्विकलं सम्प्रयोजयेत्॥
पाभागैस्तथा षड्भिः द्विकलञ्च चतुष्कलम्॥277॥

शम्या तालौ तालौ शम्या तालः षष्ठो यथाक्रमम्॥
पूर्ववत् पातविन्यासः षष्ठपञ्चमयोः स्मृतः॥278॥

अर्थात्—गुरू अक्षरों के अलग करनें के पश्चात पुनः दो कला की ताल क्रिया का उपयोग करना चाहिए। इस तरह से दो कला और चार कला के तालों के छः पाद अंग होते है। द्विकल में शम्या एंव ताल की पात क्रिया का क्रम पंचम कला और छः कला के जैसा ही स्थापित करना चाहिए।

आवाप—विक्षेपयुतं पातैरेभिश्चतुष्कलम्॥
चतुष्कलैः पादभागैः षड्भिस्तु समलङ्कृतम्॥279॥

अर्थात्—यथाक्षर के चतुष्कल ताल में आवाप और विक्षेप करते हुए, इसे चतुष्कल पादभागों से संयोजित करते हुए स्थापित करना चाहिए।

वस्तुसंख्यश्च षट्पञ्चसप्तकान् सम्प्रयोजयेत्॥
द्वितीये पञ्चमेऽन्त्ये च द्वे शम्ये समुदाहृते॥280॥

अर्थात्— अपरान्तक गीत की ताल क्रिया में पांच छः तथा सात संख्या के अंर्तगत वस्तु स्थापित करनी चाहिए तथा इसके साथ पांचवीं कला के आखिर में दो शम्या का प्रयोग होना चाहिए।

तृतीये तु भवेदन्त्यं द्वितीये पञ्चमे स्मृतः॥
आदौ षष्ठे तु तालः स्यात् सन्निपातस्तोऽन्तिमः॥281॥

अर्थात्—इसमें तीसरे, दूसरे तथा पांचवें के आखिर में ताल रखनी चाहिए और छठे के प्रारम्भ में भी ताल का नियोजन करना चाहिए और सभी के आखिर में सन्निपात को संयोजित करना चाहिए।

पूर्ववस्तु—समुद्दिष्टा पाता ह्येताश्चतुष्कले॥
एवं चतुष्कले योगो गदितस्त्वपरान्तके॥282॥
यथाक्षरपातेष्वेतद् विज्ञेयं चापरान्तकम्॥

अर्थात्–इस तरह से चतुष्कल अपरान्तक की जो स्थिति पहले वर्णित करते हुए वस्तुओं के अलग–अलग होने पर उनके साथ होने वाले पात तथा चतुष्कल अपरान्तक में प्रयुक्त होने वाले ताल यही होगे त्तपश्चात यह अपरान्तक यथाक्षर ताल के पातों के अर्न्तगत कहलाएगा।

आदौ कलोपवहन विश्लेषाद् द्विगुणं भवेत् ॥283॥
द्विकले कलिकं ज्ञेयं द्विकलं चाप्युपोहनम् ॥

कलिके कलिकं चेष्टं तथैव चाप्युपोहनम् ॥284॥
एतदेव द्विगुणितं विज्ञेयन्तु चतुष्कलम् ॥
लध्वक्षरे तृतीये तु द्विर्भाविऽन्स्या कला स्मृता ॥285॥

अर्थात्–इसके प्रारम्भ में एक कला का उपोहन को बांटने की स्थिति में दुगुणा हो जाता है, इसका द्विकल अपरान्तक की कला और उपोहन दोनों दो कलाओं के होते है। कलाओं के माध्यम से कलिका पूर्ण के तुरन्त बाद प्रत्युपोहन सम्पन्न करना चाहिए। इसी तरह एक कला के अपरान्तक में उपोहन एक कला का कहलाता है तथा इसी द्विकल अपरान्तक को दो गुणों वाला कर देने पर यह चतुष्कल अपरान्तक हो जाता है। इसका तृतीय अक्षर लघु कहलाता है। तृतीय लघु अक्षर सम्पन्न होने के द्वारा यह द्विभावी कला से अन्त होने वाला कहलाता है।

यत्रतालसमुद्भूतं पातैः षडभिविभूषितम् ॥
वस्तु शाखाख्यमित्येतद् गदितं स्वपरान्तकम् ॥286 ॥

अर्थात्–इसी अपरान्तक में प्रयुक्त होने वाली वस्तु जो त्र्यस्त्र ताल में प्रयोग होती है। वही वस्तु जब षटकल ताल के साथ प्रयोग की जाए तो वह शाखा कहलाती है।

यथा शाखा तथैवास्य प्रतिशाखा विधीयते ॥
पश्चिमार्धसमा सा तु तथैवान्यपदा स्मृता ॥
शिरश्चौककलेनास्य कर्त्तव्यं पञ्चपाणिना ॥287 ॥

अर्थात्–जिस तरह से इसमें शाखाओं का उपयोग होता है, उसी के अनुसार उस तरह से प्रतिशाखाओं का भी उपयोग होता है तथा इसके आखिर के आधे भाग में इसका अर्धसम होता है तभा इसका प्रयोग अलग–अलग पदों में भी होता है तथा इसमें एक कला के पंचपाणि इसके शीर्षक में प्रयोग की जाती है।

वृत्तौ निवृत्तयोगश्च गते वस्तुचतुष्टये ॥
शाखायां प्रतिशाखायां विशेषः पश्चिमे त्वयम् ॥288 ॥

अर्थात्—चार वस्तु के आधार पर पूर्ण होने पर वृति में निवृति का सुमेल हो जाता है। तथा यही विवृत के नियम वृति मार्ग में निर्मित होते है। तथा यही विधान शाखा और प्रतिशाखा के आखिर के आधे अंग में युक्त होते है।

षट् कलापातसंयुक्त तालिके तु त्तः स्मृते॥
तथैककलयुक्तेऽस्ति विधिवत् पञ्चपाणिना॥289॥

अर्थात्— इसकी ताल छः कलापातों से एकत्रित होती है तथा इसमें दो तालों का योग भी होना चाहिए और इसमें पंचपाणि का विधिपूर्वक एक कला के योग से विधान पूर्वक उपयोग होता है। इस विधान के माध्यम से इसमें यथाक्षर ताल के आधीन उपवर्तन की क्रिया को पूर्ण किया जाता है।

यथाक्षरेण तु भवेदनयोरुपवर्तनम्॥
उपोहनं तु वस्त्वर्धे द्विकलं प्रत्युपोहनम्॥290॥

द्विकलं दक्षिणे कार्ये वृत्तौ चैव चतुष्कलम्॥
न चात्रोपोहनं कार्ये शेषाणां तु कदाचन॥291॥

अर्थात्—चतुष्कल अपरान्तक में उपोहन आधी वस्तु के द्वारा उत्पत्ति होती है तथा प्रत्युपोहन की उत्पत्ति दो कलाओं द्वारा होती है। इस नियम के द्वारा इस तरह के गीत को **अर्थात्** द्विकल अपरान्तक को दक्षिण मार्ग में तथा चतुष्कल अपरान्तक को वृत्ति मार्ग में करना चाहिए किसी अन्य मार्ग में उपाहन नहीं किया जाता चतुष्कल अपरान्तक का समय का प्रमाण इस तरह का बतलाया गया है।

एवं चतुष्कलै योगो मया प्रोक्तोऽपरान्तके॥
उल्लोप्यकन्तु द्विगुरु द्विलध्वन्ते गुरु स्मतम्॥292॥

शम्या तालौ द्विरभ्यस्तो सन्निपातोऽन्त्य एव च॥
प्रत्यक्षरकृतैः पातैः पञ्चभिः समलङ्कृतम्॥
चतुरस्त्रं समञ्चेदं वस्तु ज्ञेयं यथाक्षरम्॥293॥

अर्थात्—उल्लोप्यक गीत क्रम विधि में दो गुरू वर्ण दो लघु वर्ण और आखिर में एक गुरू वर्ण रखे जाते है। इसमें ताल कलाओं को इस प्रकार बताया गया है प्रथम शम्या, फिर ताल, फिर शम्या, उसके बाद ताल तथा अन्त में सन्निपात रखा जाता है। तथा इसके हर एक वर्ण पर पात करने पर पांचों वर्णों पर ताल सुरजित होती है। इसमें चतुरस्त्र यथाक्षर ताल को

अलग–अलग हर एक अक्षर पर पूरी व्यवस्था के नियम से होने पर इसके ताल विभाग को यथाक्षर कहते है।

पूर्वोक्तेन विधानेन द्वि–चतुष्कलमिष्यते॥
अस्य चाङ्गत्रये गीते वैहायसिकमिष्यते॥294॥

अर्थात्–इस तरह से पहले कहे गये नियम के अनुरूप यह उल्लोप्यक गीत दो तथा चार कलाओं का होता है। इसके तीन भाग का गान पूर्ण होने के बाद इसमें वैहायसिक गीत के लक्षण दृष्टिगोचर होते है।

तदेकानावरं ज्ञेयं द्वादशाङ्गपरं तथा॥
प्रमाणं द्वादशकलं सप्तपातमथापि वा॥295॥

अस्य तु द्विकला शम्या तालश्च द्विकलस्तथा॥
द्विकला च पुनः शम्या तालश्चैककलः स्मृतः॥296॥

त्तः शम्या त्तस्तालः सन्निपातस्त्तः परम्॥
शाखेयं प्रतिशाखा तु नित्यमन्यपदार स्मृता॥297॥

अर्थात्–इसके छोटे रूप में कम से कम एक अंग और अधिक से अधिक बारह अंगों का उपयोग होता है और साथ ही में इसका ताल प्रमाण के रूप में बारह कलाओं की या सात कलाओं के योग से पूर्ण होता है तथा इसमें दो कलाओं शम्या के पीछे दों कलाओं की ताल उसके बाद फिर दो कलाओं की शम्या होने पर यह एक कला की ताल कही जाती है। इसके बाद एक कला की शम्या फिर एक कला का ताल और एक कला का ताल और एक कला का सन्निपात किया जाता है। इसकी शाखा और प्रतिशाखा में सदा अलग तरह के पदों की व्यवस्था की जाती है।

पदा त्वस्य भवेदन्ते तदन्ताहरणं बुधैः॥
यथाक्षरेण नियमात् संहार्ये पञ्चपाणिना॥298॥

अर्थात्–जिस समय यह करीब होती है। तब यह अन्ताहरण गीत को धारण कर लेती है तथा यथाक्षर पंचपाणि का प्रयोग संहार के नियम होता है। अर्थात् संहार में पंचपाणि का उपयोग अंगों (अक्षरों) के अनुरूप होता है।

स्वतालैनान्तहीनस्य संहारः परिकीर्त्यते॥

द्विप्रकार निवृत्तञ्च त्र्यंशोऽथ त्रिविधः स्मृत ॥299 ॥

अर्थात्–इसका समापन्न अपने ताल पर किया जाता है, न कि सन्निपात पर तथा इसे संहार कहा जाता है। इसमें दो प्रकार की वृत तथा इसके अंशों का अन्त तीन नियम से होता है, जो इस प्रकार है– त्र्यस्त्र, चतुरस्त्र तथा मिश्र।

त्र्यस्त्रश्च चतुरनश्च मिश्रश्च त्रिविधः स्मृतः ॥
स्थितप्रवृत्ते तस्याङ्गे महाजनिकमेव च ॥300 ॥

स्यात् पञ्चपाणितालैन तदाताहरणं तथा ॥
तथास्थितं भवेद् युग्मं तस्य पातविधिस्त्वयम् ॥301 ॥

शम्या तु द्विकला कार्या तालश्च द्विकलः स्मृतः ॥
चतुष्कलः सन्निपातः प्रवृत्तमतः इष्यते ॥302 ॥

तस्यापि द्विकला शम्या तालश्चौककलः पुनः ॥
चञ्चत्पुटश्च तालादिः सन्निपातस्त्तः परम् ॥301 ॥

अर्थात्– निवृत्त के तीन प्रकार होते है, जो क्रमशः त्र्यस्त्र, चतुरस्त्र तथा मिश्र कहलाते है तथा इसके स्थित, प्रवृत्त और महाजनिक तीन प्रकार के अंग भी होते है। इस तरह से पंचपाणि ताल का प्रयोग अन्पाहरण गीत में विधि अनुरूप होता है। और इसी तरह से पात की विधियों का उपयोग युग्म ताल के अनुरूप होने पर स्थित होता है। इसी पात क्रिया के नियम इस तरह से बताए गए है। जिसमें प्रथम दो कलाओं की शम्या, उसके उपरान्त दो कलाओं की ताल का उपयोग होता है। त्पश्चात चार कलाओं का सन्निपात प्रयोग करना चाहिए। इसके पश्चात प्रवृत्त को किया जाता है। जिसकी पात क्रिया इस प्रकार है। इसमें दों कलाओं की शम्या, एक कला की ताल उसके बाद चच्चत्पुट ताल का उपयोग करते हुए अन्त में सन्निपात होता है।

स्थितं तालेन कर्त्तव्यं महाजनिकमस्य तु ॥
निवृत्ततालः कर्त्तव्यो निवृत्तस्यापि तत्त्वतः ॥304 ॥

अर्थात्–महाजनिक की ताल क्रिया स्थित ताल क्रिया के अनुसार सम्पन्न करनी चाहिए तथा निवृत ताल का कार्य ठीक प्रकार से स्थित और वृत के अनुरूप नियमानुसार पूर्ण करना चाहिए।

स्थित महाजनिकयोः प्रायः समुपवर्तनम् ॥

श्रादावुद्घट्टका कार्य परिवर्तक एव च ॥305॥

अर्थात्—इसमें ताल की प्रयोग विधि के बाद स्थित तथा महाजनिक में प्रायः उपर्वतन की क्रिया सम्पूर्ण की जाती है। तथा इसके प्रारम्भ, प्रथम में उद्धहक तथा परिर्वतक सम्पन्न करना चाहिए।

युग्मे हि मिश्रतालत्वाद् युग्मे ह्यन्तः प्रयुज्यते॥
विवधैककसंयुक्तः सर्वश्चान्तविधिः स्मृतः ॥306॥

अर्थात्—उद्धहे और परिवर्तक कार्य पूर्ण करके मिश्र ताल का युग्मानुसार अन्त करना चाहिए **अर्थात्** यह युग्म में मिश्र ताल होने से यह आखिर में प्रयोग होता है। साथ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि अन्त में ताल के सभी नियम विविध और एकक से सम्मिलित होकर प्रयोग होते है।

यथावदन्तालोऽयं युग्मो मिश्रश्च कीर्तितः॥
अतः परं प्रवक्ष्यामि त्र्यस्त्रतालविधिं प्रति ॥307॥

अर्थात्—इस श्लोक के अर्न्तगत भरत मुनि द्वारा वर्णन किया गया है कि अन्त ताल को नियमानुसार यहां वर्णन किया है। जिससे युग्म और ताल हो जाती है तथा आगे त्र्यस्त्र ताल के नियम के बारे में बतलाता हूं।

शम्या तु द्विकला पूर्व त्तस्तालो विधीयते॥
त्रिकलः सन्निपातश्च प्रवृत्तश्चाप्यतः परम् ॥308॥

अर्थात्—त्र्यस्त्र ताल की क्रम प्रक्रिया इस प्रकार है। इसमें सबसे पहले दो कलाओं की शम्या का उपयोग करना चाहिए, फिर ताल और अन्त में जीन कलाओं के सन्निपात का उपयोग करना चाहिए, अन्नतर प्रवृत का उपयोग करना चाहिए।

प्रवृत्तमत्र कर्त्तव्यं कथावत् परिवर्तनम्॥
यथाक्षरप्रयुक्तेन समासात् पञ्चपाणिना॥ 309॥

अर्थात्—प्रवृत का कार्य सम्पूर्ण करने के बाद विधिवत परिवर्तन का क्रिया को ठीक तरह से पूरा करना चाहिए। इसका प्रयोग पंचपाणि के समान रूप जैसे यथाक्षर प्रणाली के नियमों के तदानुसाार होना चाहिए।

अस्यापि स्थित्तालेन महाजनिकमिप्यते॥
निवृत्ततालः कर्त्तव्यस्तथास्थान्तनिवर्तिते॥310॥

अर्थात्—इसका प्रयोग ताल के नियुक्त होने से इसे महाजनिक कहते है। ताल के अन्त में निहित ताल को रखा जाता है। अतः इसे निवृति भी कहा जाता है।

युग्मौजमिश्रतालत्वाम्मिश्रोऽप्यन्तः प्रवर्तनम्॥
विवधैककसंयुक्तः सर्वश्चान्तविधः स्मृतः॥311॥

अर्थात्—मिश्र ताल में युग्म (चतुरस्त्र), ओंज (त्र्यस्त्र) तालों का मिश्रण के कारण मिश्र ताल में भी त्तसम प्रवर्तन आता है तथा विविध और एकक का एक साथ प्रयोग होने के कारण यह हमेशा आखिर वादन विधि कही जाती है।

द्वयङ्गमेकाङ्गमपि वा स्थितं कार्ये समासतः॥
तत्र युग्मं भवेद् द्वयङ्ग ध्यममेकाङ्गमिष्यते॥312॥

अर्थात्—स्थित के कार्य के अर्न्तगत एक या दों अंगों का एक साथ उपयोग होता है और इन तालों में युग्म ताल के साथ दों अंगों का तथा त्र्यस्त्र ताल ताल में एक अंग का उपयोग होता है।

प्रवृत्तमपि विशेयं द्वयनमेकामेव वा॥
महाजनिकमेकाझं द्वयङ्गं संहरणं स्मृतम्॥313॥

अर्थात्—इसी तरह से प्रवृतक भी दो या एक अंग से उत्पन्न होता है। महाजनिक में एक अंग और तीन अंग का एक साथ प्रयोग होता है। इसी कारण से इसे संहरण भी कहते है।

स्थितादिकः प्रवृत्तान्त एवमन्तं विदुर्बुधाः॥
उल्लोप्यके सदा योज्यमूहापोहविशारदः॥314॥

अर्थात्— इसी तरह इस विधा की वास्तविकता को विद्वानों द्वारा विचार—विर्मश से यह निश्चित किया गया कि उल्लोप्यक गीत आरम्भ में स्थित और समापन में प्रवृत विधि का ही उपयोग करना चाहिए।

प्रकरीवस्तु षण्मात्रा पाताश्चैकोनविंशतिः॥
वस्तु प्रमाणं कर्त्तव्यं तथैव च चतुष्कले॥315॥

अर्थात्—इस श्लोक में कहा गया है कि प्रकरी के वस्तु की वास्तविकता में छः मात्राएं और उन्निस पात होते है और इससे बनी हुई वस्तु का साक्ष्य ऐसा हो जिसमें चार कलाएं हो।

न यथाक्षरयोगोऽत्र न चात्र द्विकलो भवेत्॥
आद्यमात्रात्रयस्यान्ते शम्या—तालौ प्रकीर्तितौ॥316॥

षण्मात्रं पातसंयुक्तं वस्तु कार्य यथाक्रमम्॥
उपोहन्नतु वस्त्वर्धे प्रथमे च द्विजोत्तमाः॥317॥

अर्थात्—प्रकरी में यथाक्षर ताल योग का विधान तथा दो कलाओं के उपयोग का नियम मान्नय नहीं है। प्रारम्भ में तीन मात्राओं के बाद इसमें शम्या तथा ताल किया जाता है। इसके पश्चात क्रमशः छः मात्राओं के योग से वस्तु की अवस्था की जाती है तथा वस्तु के प्रथम के आधे भाग की मात्रा में उपोहन किया जाता है।

शम्या अस्य तु मात्रा स्याद् द्वितीया तालसंयुता॥
मात्रात्रयस्य चान्त्या स्यात् शम्यैका च पुनस्तथा॥318॥

चतुर्थ्यो द्वादशस्तालः पञ्चम्याश्वाष्टकः स्मृतः॥
षष्टयान्तु द्विकला शम्या तालश्च द्विकलो भवेत्॥319॥

पुनश्च द्विकलस्तालः शम्या च द्विकला पुनः॥
शम्यातालश्च तालश्च शम्यातालस्तथैव च॥320॥

अर्थात्— इसकी पहली की दो—तीन मात्राएं है। उनमें इसकी दूसरी मात्रा पर ताल और शम्या एक साथ हुआ करती है। फिर आखिर में भी शम्या हुआ करती है। इसकी चौथी मात्रा बारह मात्रा, पांचवीं मात्रा आठ ताल की, छठी मात्रा में दों कला की शम्या और दो कला की ताल होती है। त्पश्चात् इसमें दो कलाओं की ताल तथा दो कलाओं की शम्या का संयोजन होने से यह क्रमानुसार इस तरह से है— शम्या, ताल, ताल, शम्या, ताल, शम्या और अन्त में सन्निपात होने पर इसकी वस्तु का आखिरी स्वरूप निश्चित होता है।

शम्यातालः सन्निपात इति वस्तु प्रकीर्त्यते।
यदा त्वर्धचतुर्थानि वस्तूनि प्रकरी भवेत्॥321॥

पश्चिमार्धे पदस्यत्त् तदर्ध प्राक् निवेशयेत्॥
कनिष्ठासारितेनास्य कार्ये संहरणं त्तः॥322॥

अर्थात्—जब प्रकरी की सृष्टि साढ़े चार मात्रा की वस्तु द्वारा की जाती है। तब उसका पीछे वाला अर्ध भाग पद होता है तथा उसी तरह के आधे पद का उपयोग आरम्भ में स्थित होता है तथा इसके संहरण का कार्य कनिष्ठ आसारित के द्वारा होता है।

पादः पूर्वसमः कार्यस्त्वपरान्तकशाखया॥
ओवेणके द्वितीयस्य तस्य च प्रतिशाखया॥323॥

स एव पातविन्यासो माषघातमतः परम्॥
षट्पातो द्वादशकलस्तस्य पातविधिस्त्वयम्॥324॥

कर्त्तव्या द्विकला शम्या तालो द्विकल एव च॥
पुनश्च द्विकलस्तालः शम्या च द्विकला पुनः॥325॥

त्तधैककलस्तालः सन्निपातः कलात्रये॥
प्रायेण माषघातस्तु विवधाङ्गः प्रकीर्तितः॥326॥

सन्धिश्चैव हि तस्यान्ते कदाचिदुपवर्तनम्॥
तस्या स्यात् कलिकेनैव तच्चोघं पञ्चपाणिना॥327॥

सन्धिर्यथाक्षरेणैव कर्त्तव्यः पञ्चपाणिना॥
एककं विवधो वापि तस्याङ्ग समुदाहृतम् ॥328॥

अर्थात्— ओवेणक गीत के प्रथम पद में अपरान्तक गीत की शाखा के तरह ही नियम लागु होते हैं और इसके द्वितीय पद में भी उसी की तरह प्रतिशाखा का उपयोग होता है। ठीक उसी प्रकार इस गीत विधि में पातकला और माषघात का उपयोग किया जाता है। इसके पात सिद्धान्त में बारह कलाओं के अर्न्तगत छः पात रखे जाते है। जिसकी क्रत परम्परा इस तरह से है। दो कलाओं की शम्या फिर दो कलाओं का ताल तथा फिर से दो कलाओं की ताल उसके बाद दो कलाओं की शम्या, फिर एक कला की ताल और तीन कलाओं का सन्निपात होता है। इसके माषघात में मुख्यतः विवध के अंगों का उपयोग होता है और पद के पिछले आधे भाग पर सन्निपात करने के बाद उपवर्तन क्रिया पूर्ण की जाती है तथा पंचपाणि का उपयोग एकक यथाक्षर के विधान अनुसार होता है तथा सन्धि की अवस्था यथाक्षर पंचपाणि के द्वारा हुआ करती है। एकक और विवध इसके अंग कहलाते है।

उपवर्तनवञ्चास्य पृथग्विधिरिति स्मृतः॥

अन्त्यस्य चतुरस्रस्य प्रवृत्ते यो विधिः स्मृतः ॥329॥

अर्थात्—इसमें उपवर्तन की तरह अलग नियम होते है। इसमें प्रवृत्त के समान चतुरस्त्र की तरह सम्पन्न किया जाता है। जिस प्रकार चतुरस्त्र में विवध का अंग युक्त हुआ करता है।

विवधाङ्गेन तेनैव चतुरस्रकमिष्यते॥
सन्धिवद् वज्रतालश्च द्विधा सम्पिष्टकं स्मृतम्॥330॥

सप्ताहैदशकलं द्वादशाङ्गदशैवतु॥
निष्क्राममादितः कृत्वा शम्यास्तिस्त्रः प्रयोजयेत्॥331॥

तालत्रयं त्तश्चैव शम्यातालौ त्तः परम्॥
शम्यातालौ त्तः कार्यौं सन्निपातोऽन्त्य एव च॥332॥

अर्थात्—इसका सम्पिष्टक दो प्रकार का होता है। जो क्रमशः सन्धिवत और व्रजताल कहलाता है। इनमें क्रमानुसार बारह कलाओं में सात अंग और दस कलाओं के बारह अंगों के विभाग किये जाते है। इसके निष्क्राम को सर्वप्रथम सम्पन्न करते हुए, इसमें तीन शम्या, तीन ताल और शम्या तथा ताल का क्रमानुसार उपयोग हुआ करता है। त्तपश्चात् शम्या, ताल का उपयोग करते हुए। अन्नतर सन्निपात करना चाहिए। इस विधि से समापन होने वाली ताल रचना को आवेणक गीत का सात अंग वाला सम्पिष्टक कहते है।

ओवेणके तु सप्ताङ्गे सस्पिष्टकमिदं स्मृतम् ॥
द्विशम्या तालयोगेन द्वादशाङ्गेऽपि चेष्यते ॥333॥

पाता नवैकादश वा सम्पिष्टकमुदाहृतम् ॥
वज्रवत् सम्प्रयोक्तव्यमुपवर्तनमेव च ॥334॥

अर्थात्—बारह अंगों वाले सम्पिष्टक में दो शम्या तथा दो तालों की योजना कर देने से सम्पिष्टक के द्वादशांग ओवेणक की अवस्था बन जाती है और इसमें नौ एवम ग्यारह पात पूर्ण किये जाने पर संपिष्टक की रचना होती है तथा इसमें व्रजताल की तरह ही उपवर्तन का उपयोग होता है।

युक्ता विवधवृत्ताभ्यां प्रवेणी द्विविधा स्मृता॥
पञ्चपाणिः प्रकर्त्तव्यः प्रवेण्या तु यथाक्षरः ॥335॥

द्विकलो वापि मिश्रो वा प्रयोगोऽङ्गवशानुगः ॥

अन्ते चास्य प्रकर्त्तव्यं कदाचिदुपवर्तनम् ॥336॥

पञ्चपाणिविधानेन यथोक्तेनैव तद् भवेत् ॥
द्वितीयतालपातेन ह्यपपातश्च कोर्त्यते ॥337॥

वज्रतालेन कर्त्तव्यं क्रम'' संहरणस्य तु ॥
रोविन्दके तु षण्मात्राः पातभागैश्चतुष्कलैः ॥338 ॥

अर्थात्– विविध तथा वृत्त के योग से होने वाली प्रवेणी के भी दो भाग है तथा पंचपाणि के समान ही प्रवेणी का उपयोग यथाक्षर के अनुसार ही होता है। इसमें दो कलाओं के योग या फिर मिश्र रूप में अपने बारह अंगो के साथ प्रयोग होता है तथा इसमें उपवर्तन कार्य आखिर में किया जाता है तथा इसका समापन पंचपाणि के नियम के अनुकूल ही हुआ करता है। इससे बाद का पात या आगे का पात जिसे द्वितीय ताल किया जाता है। उसे अपपात कहा जाता है और इसके अन्तहरण का कार्य व्रजताल के समान ही हुआ करता है।

अर्धेऽन्ते चैव मात्राणां पच्चानां पात इष्यते ॥
तालशम्या च तालश्च शम्यातालस्तथैव च ॥393 ॥

अन्ते शम्या तथा चैव सर्वासामपि कीर्तिता ॥
पञ्चानामपि मात्राणां विधिरेष यथाक्रमम् ॥340 ॥

चतुर्दशस्तु पञ्चम्यां मात्रायां ताल इष्यते ॥
चतुष्कला तु तत्तल्या षष्ठी मद्रकमात्रया ॥341 ॥

अर्थात्–रोविन्दक नामक गीत में चतुष्कल पादभागों के सहित छः मात्राएं होती है तथा इसमें उन्नीस पात होते है। यहां हर साढ़ें पांच मात्रा पर पात होता है। इसके पातों का नियम इस तरह से है– ताल, शम्या, ताल शम्या, ताल। इस तरह से पांच मात्राओं का क्रमिक नियम यहां चौदह कलाओं का विधान पांचवी मात्रा के लिए होता है तथा मद्रक गीत के समान ही छठी मात्रा का समापन चौदह कलाओं का रखा जाता है।

तथा चाष्टौ कला कार्याः प्रथमायामुपोहनम् ॥
त्तश्चैव प्रयोक्तव्यं द्विकलं प्रत्युपोद्दनम् ॥342 ॥

पाताः स्युः सन्निपातान्ता विवधैककयोजिताः ॥
वर्णानुकर्षोऽष्टकलस्त्वन्ते प्रस्तार इष्यते ॥343 ॥

अर्थात्—रोविन्दक गीत के प्रथम बाद प्रकार के बारे में कहते हुए कहा है, कि इसकी प्राथमिक अवस्था आठ कलाओं से रचित उपोहन होता है तथा दो कलाओं का प्रत्युपोहन हुआ करता है और पातों का समापन सन्निपात से होता है तथा विवध और एकक इसमें सम्मलित किए जाते है तथा इसकी अंतिम अवस्था में वर्णों को एकत्रित करके आठ कलाओं से उत्पत्ति हुआ करती है।

तुल्यवर्णोपवहनो द्वितीयः पाद इष्यते॥
शरीरतालः कर्त्तव्यः प्रस्तारोऽपि विशेषतः॥344॥

द्विकले नैव कर्त्तव्यो विशेषात् पञ्चपाणिना।
कलाद्वादशनिद्दिष्टं प्रमाणञ्चास्य तत्त्वतः॥345॥

अर्थात्— इस गीत के दूसरे पाद में भी पाद की तरह ही वर्णों का प्रयोग करने उपोहन क्रिया निर्मित की जाती है। इसके विस्तार में विशिष्ट रूप से इसमें उपस्थित क्रम के अनुकूल होने वाले ताल का प्रयोग हुआ करता है तथा यहां दो कलाओं की पंचपाणि के द्वारा इसकी प्रस्तुती होनी चाहिए तथा इसका पूरा मान बारह कलाओं का होना चाहिए।

रोविन्दकशरीरन्तु षट्कलोपोहनं स्मृतम्॥
विवधं वा प्रवृत्तं वा तस्यादौ परिकीर्त्यते॥346॥

आकारवृत्तमन्यत् स्याश्चतुष्कं त्रिकमेव वा॥
तस्योपरि यथेष्ट स्यादधस्तादङ्गयोजनम्॥347॥

अविशेषनिवृत्तन्तु शीर्षकन्तु प्रयोजयेत॥
यथाक्षरेण तच्चैव कर्त्तव्यं पञ्चपाणिना॥348॥

आदावेकैकमन्त्यस्य प्रवृत्तो नियमो भवेत्॥
इति रोविन्दक प्रोक्तं स्यादुत्तरमतः परम्॥349॥

अर्थात्— रोविन्दक के स्वरूप की रचना मे उपोहन क्रिया छः कलाओं की होती है। तथा उसके प्रथम में विवध तथा वृत्त का उपयोग होता है। इसका प्रारम्भ आवाप से हुआ करता है। इसके वृत्त के आकार में चार या तीन कलाओं की योजना होती है तथा उसके बाद इसमें यथानुकूल अंगों की व्यवस्था होनी चाहिए। किसी विशेष पद्धति के लिए इसमें शीषक्र है, परन्तु इसके पद के अक्षरों के अनुकूल ही इसमें पंचपाणि का उपयोग होता है। इसमें

नियमानुसार आरम्भ में एकक का तथा आखिर में प्रवृत्त का उपयोग किया जाता है। रोविन्दक गीत के स्वरूप में यही नियम है। इसके पश्चात उत्तर गीत के लक्षणों का वर्णन आगे होगा।

उत्तरं सम्प्रवक्ष्यामि यथाविहितलक्षणम्॥
अस्येदमुत्तरस्याथ मुखं प्रतिमुखं भवेत्॥350॥

अर्थात्—प्रस्तुत श्लोक में भरत मुनि द्वारा उत्तर गीत के लक्षण आदि के अनुसार तथा नियमपूर्वक उसका स्वरूप बतलाने की बात कही है। जिसमें मुख तथा प्रतिमुख दोनों ही अंगों का प्रयोग किया जाता है।

उल्लोप्यकवदस्यादौ मात्रा चैका चतुष्कला॥
रोविन्दकवदाकार गणमाद्यं प्रयोजयेत्॥351॥

अर्थात्— इसके आरम्भ की मात्रा उल्लोप्यक नामक गीत के समान चार कलाओं वाली होती है तथा रोविन्दक गीत की तरह ही इसके आरम्भ में आकार वर्ग का उपयोग करना चाहिए।

शाखा षङ्गला त्वपरा द्वादशाङ्गा परा स्मृता॥
षटपाता द्वादशकला शाखा ज्ञेया प्रमाणतः॥352॥

तस्यास्तु द्विकलस्तालः शम्या चैककला भवेत्॥
तथा च द्विकलस्तालः शम्या च द्विकछा त्तः॥453॥

पुनश्चैककलस्तालः सन्निपातः कलात्रये॥
शास्त्रावत् प्रतिशाखा च भवेदन्यपदा तु सा॥454॥

अर्थात्— उत्तर गीत अंगों का मान क्रम में इस तरह से वर्णित है, कि इसमें कम से कम छः अंगों का और ज्यादा से ज्यादा बारह अंगों का उपयोग होना चाहिए। इसमें शाखा का मान इस तरह का बताया गया है, कि इसमें बारह कलाओं युक्त छः पात हुआ करते है। इसमें पातों को क्रमानुसार इस प्रकार बताया गया है। इसकी ताल दो कलाओं की और एक कला की शम्या तथा फिर से दो कलाओं का ताल, दो कलाओं की शम्या अन्नतर एक कला की ताल तथा तीन कला की सन्निपात का उपयोग होना चाहिए। इसमें शाखा की तरह की प्रतिशाखा भी होती है। केवल इसके पादों में भिन्नता होती है।

अविशेषान्निवृत्तस्याप्यस्यान्ते नियमो भवेत्॥
शीर्षकञ्चैव कर्त्तव्यमस्यान्ते पञ्चपाणिना॥355॥

अर्थात्– यहाँ इसके समापन के विषय में कुछ अलग विधान कहा है। जब विशेष नियम से अन्त करना हो, तो इसके अन्त में शीर्षक को पंचपाणि (यथाक्षर) के साथ पूरा करना चाहिए।

पञ्चपाणिविधानेन प्रतिखाशा त्तः परम्॥
द्विकलः पञ्चपाणिस्तु पूर्वपातैर्यथाक्रमम्॥356॥

अर्थात्–दो कलाओं के पंचपाणि के साथ प्रतिशाखा भी उसके पश्चात होनी चाहिए, जैसे पहले किए हुए वर्णन के क्रम के अनुसार पात क्रिया स्थापित है।

तालोऽयं दक्षिणे मार्गे सप्तरूपस्य कीर्तितः॥
य एवं दक्षिणे कालः स वृत्तावपि चेष्यते॥357॥

अर्थात्–जिन तालों का प्रयोग सात प्रकार के गीतों में होता है। वे तालें दक्षिण मार्ग में सम्मिलित होती है। दक्षिण मार्ग की इन तालों का उपयोग समय उपर्युक्त होने पर वृति मार्ग में भी इनका प्रयोग कर लिया जाता है।

चित्रेणेव हि सर्वत्र विशेषो यत्र नोच्यते॥
अर्थयोगादेष एव नृत्ते कालविधिर्भवेत्॥358॥

अर्थात्–दक्षिण मार्ग की सात तालों का प्रयोग जिस नियम से किया जाता है। अगर कोई विशेष बात न हो, तो वही विधान से चित्र मार्ग में भी प्रयोग होता है तथा अर्ध योग के कारण यही तालों का विधान दक्षिण मार्ग की विधि के अनुकूल ही होना चाहिए।

उल्लोप्यकोत्तरमुखे हित्वा युग्मं तथैककम्॥
अर्धयोगस्तु त्तकाले द्विकलः सम्प्रकीर्त्यते॥359॥

अर्थात्–उल्लोप्यक और उतर गीत प्रकारों के मुखड़े का रचना युग्म तथा एकक के नियम से ही होता है। जिसमें संदेहास्पद चार कलाओं, दो कलाओं, तीन कलाओं आदि का उपयोग यथाक्षर होता है।

चतुष्कलः स्याद्विकलो द्वितीयश्च यथाक्षर॥
रोविन्दकोल्लोप्यकयोर्मद्रकोत्तरयोस्तथा॥360॥

अर्थात्–इस तरह से रोविन्दक, उल्लोप्यक, मद्रक तथा उत्तर गीत की दशा में भी दूसरा यथाक्षर चार कलाओं का या फिर दो कलाओं का हुआ करता है।

शरीरेषु विधिर्ह्येष शेषेषु प्रकृतिर्भवेत्॥
प्रकृतावपि तेषां स्याद् द्विकलेन चतुष्कलम्॥361

कालेनैव भवेद् वृत्तावर्धयोगश्चतुष्कले॥
वार्तिश्चतुष्कलो योगो दक्षिणे स्यात् कदाचन॥362॥

अर्थात्—रोविन्दक, उल्लोप्यक, मद्रक और उत्तर नामक गीतों का स्वरूप की निर्माण प्रकृति के अनुसार किया जाता है। प्रकृति के अनुसार निर्मित होने वाले ताल स्वरूप में दो कलाओं और चार कलाओं वाली ताल का उपयोग होता है। जब अर्थ योग का उपयोग वृत्त मार्ग के द्वारा किया जाता है। तब वह योग चार कलाओं से रचित होता है। वृत्त मार्ग में प्रयोग होने वाला चार कलाओं का योग कभी–कभी दक्षिण मार्ग के योग में भी उपयोग होता है।

मद्रकोल्लोप्यकयोश्च मुखोपवहनैषु च॥
यो दक्षिणे तालविधिवृत्तौ स समुदाहृतः॥363॥

अर्थात्— मद्रक और उल्लोप्यक गीतों में प्रयोग होने वाले मुख और उपोहन लिन ताल क्रियाओं का उपयोग दक्षिण मार्ग में किया जाता है। वही ताल क्रिया वृति मार्ग में भी प्रयोग की जा सकती है।

चित्रे व्यस्त समस्ते वा तावुभौ परिकीर्तितौ॥
शाखानिवृत्तादन्यत्र चित्रं तूभयमार्गिकम्॥364॥

अर्थात्—समय के अनुरूप वही नियुक्ति चित्र मार्ग में भी होती है, चाहे वह अकेला हो या किसी अन्य के साथ मिश्र प्रयोग हो रहा है। यह दोनों कला नियम प्रयोग हो सकते है। शाखा समाप्ति के लिए चित्र मार्ग में से इन दो मार्गों से किसी एक के शाखा सम्पादित करने की क्रिया विधान के अनुसार समापन्न रचाकर फिर अन्त करते है।

इति मार्गत्रये ह्येत्त् सप्तरूपं प्रकीर्तितम्॥
द्विविधा प्रकृतिश्चास्य कुलकं छेद्यक तथा॥365॥
एकार्थ कुलकं तत्र पृथक् छेद्यकमिष्यते॥

अर्थात्—मूल रूप से ताल के यही तीन मार्ग होते है, जो सात प्रकार के गीतो में प्रयोग होते है। प्रकृति के भी दो प्रकार होते है। जिन्हें कुलक तथा छेपक नाम से जाना जाता है। इनमें जिन गीतो में डेढ़ पंक्ति का भाव होता है, वह कुलकं में रखे जाते है तथा गीतों की बाकी बची हुयी रचना, जो इनसें अलग पंक्तियों में हो वह छेपक कही जाती है।

त्रिविधश्चैव विज्ञेयं सप्तरूपं प्रयोक्तृभिः॥
नियुक्तं पदनियुक्तमनिर्युक्तं तथैव च॥366॥

अर्थात्–इन सात प्रकार के गीतों के तीन प्रकार होते है, इन तीन भेदों के नाम निर्युक्त और अनिर्युक्त से जाने जाते है।

बहिर्गीताङ्गशाखाभिर्युक्तं नियुक्तमिष्यते॥367॥

अर्थात्–जो गीत बहिर्गीत या उसकी शाखाओं में सम्मिलित होते है, वह निर्युक्त कहलाता है, जो गीत बहिर्गीत के किसी भी गीत या अन्य किसी गीत के मिश्रण से रहित हो **अर्थात्** जो पूर्णरूप से वास्तविक हो वह गीत पद निर्युक्त कहा जाता है।

बहिर्गीतविद्दीन्नतु पदनिर्युक्तमिष्यते॥
बहिर्गीतविद्दीनञ्चाप्यनियुक्तमिति स्मृतम्॥368॥

अर्थात्–जिस गीत में बहिर्गीत के अंगों से कोई भी अंग मेल न रखता हो **अर्थात्** जो गीत बहिर्गीत के नियम से एकदम विहिन हो वह गीत अनिर्युक्त कहलाता है।

इत्येत् सप्तरूपस्य प्रकृतेः द्विविधं स्मृतम्॥
ब्रह्मोक्तं सप्तरूपं हि समवेदाद् विनिःसृतम्॥369॥

अर्थात्–इस प्रकार से इन सात तरह के गीतों की प्रकृति दो प्रकार की कही गयी है। यह सात गीत सामवेद से उत्पन्न हुए है तथा यह गीत ब्रम्हा के द्वारा कहे गए है।

दैवताराधनं पुण्यमन्नतं गीतवादितम्॥
सर्वेषामेव गीतानामन्तेषु छन्दकं स्मृतम्॥ 370॥

अर्थात्–गीत तथा वाद्य संगीत को देवताओं की पूजा, अर्चना के लिए प्रयोग किया जाता है। यह अन्नतपूण्य का फल दी जाने वाली वस्तु है। इन सभी तरह के गीतों का समापन छन्द की (छेद्यक) की व्यवस्था होनी चाहिए।

चतुरङ्गं त्तस्र्यत नवाङ्ग युग्ममेव च॥
ऋग्गाथापाणिकानाञ्च प्रमाणानां तथैव च॥371॥
अनेनैव विधानेन युग्मौजत्वं विभावयेत्॥

अर्थात्–जो दो, चार, तीन या फिर नौ चतुरस्त्र तालों का निर्माण हो, ऋगाथा तथा पाणिका की भी यही विधान है, और इसी विधि के अनुकूल चतुरस्त्र और त्र्यस्त्र ताल को भी जान्ना चाहिए।

यो गणः पूर्णमुद्दिष्टस्तस्यादौ तु कला भवेत्॥372॥
चतुर्मात्राकृतश्चौव कलां समवधारयेत्॥

अष्टाङ्गा वा षडङ्गा वा युग्मोजौ वा प्रमाणतः॥373
स्तुतियुक्ता तु कर्तव्या माद्रिकी चैव पाणिका॥
चतुष्पादा तथकाङ्गा द्व्यङ्गा त्र्यङ्गा विभावयेत्॥374॥

अर्थात्—जिस तरह से गण को इससे पहले बताया गया है। उसके अन्त में एक कला होती है, इसकी अवस्था कला की चार मात्राओं से होती है, माद्रिकी, पाणिका तथा चतुष्पदा नामक यह तीन गीत देवताओं की स्तुति के लिये प्रयुक्त होते है। उन्हें चतुरस्त्र या त्र्यस्त्र ताल में आठ अंग, सोलह अंग या फिर उनके योग से कोई भी छंद हो विधान मात्राओं के अनुकूल ही प्रयुक्त किया जाना चाहिए। सभी तरह गीतों में छन्द का निष्पादन जरूर होना चाहिए और स्तुति—युक्त गीतों में भी मात्राओं के ही नियम अनुसार पाणि का नियम भी उसी के जैसा होना चाहिए। इसी तरह से चतुष्पद **अर्थात्** चार पदों वाले एक अंग वाले दो अंग तथा तीन अंग वाले गीत को भी समझना चाहिए।

अङ्गैर्व्यस्तैस्समस्तैर्वा युग्मौजी चा प्रकीर्तितौ॥
सप्तरूपस्य तालोऽयं मया हि परिकीर्तितः॥375॥

अर्थात्—गीत चाहे कैसे भी हो, सभी गीतों में अंगों से युक्त रूप वाले चतुस्त्र या त्र्यस्त्र ताल के स्वरूप में ही सभी गीतों की निर्मिति अंग, युग्म के प्रमाण स्वरूप ही होनी चाहिए। सातों गीतों के ताल का यही नियम है, जो यहां बताया गया है।

चतुरस्त्रा तथा त्र्यस्त्रा ध्रुवा ज्ञेया प्रयोक्तृभिः॥
तासां तालविधान्नतु षट्प्रमाणं समासतः॥376॥

अर्थात्—त्र्यस्त्र तथा चतुरस्त्र ताल प्रकारों में ध्रुवाएं भी होती है। इनका ताल विधान छोटे रूप में छः प्रकार का होता है।

अड़िता चोत्थिता चैव चतुरस्त्र प्रमाणतः॥
चतुभिस्सन्निपातैश्च ज्ञेया चञ्चत्पुटा स्मृता॥377॥

अर्थात्—इनमें चतुरस्त्र ताल ध्रुवा, अडिता तथा उत्थिकता ध्रुवा होती है। जिनकी अवस्था चार सन्निपातों के माध्यम से चच्चत्पुट ताल होती है।

सुप्रतिष्ठावसानानां सन्निपातेऽन्त इष्यते॥
अपकृष्टा स्मृता त्र्यस्त्रा तथा चापपुटाश्रिता ॥378॥

चतुर्भिस्सन्निपातैश्च युक्ता पादान्तसंश्रितैः॥
तथाकाशग्रहस्तासां तावञ्चश्वत्पुटः स्मृतः॥379॥

अर्थात्– बहुत उपर तक अच्छी स्थिति में होने वाली, इन ध्रुवाओं के आखिर में सन्निपात किया जाता है। त्र्यस्त्र ताल और चाचपुट ताल से निर्मित होने वाली ध्रुवा अपकृष्टा कही जाती है। यह पाद के आखिर में उपस्थित चार सन्निपातों के सुम्मेलन से हुआ करती है। इसमें हर एक का ग्रह आकाश चच्चत्पुट होता है।

विलम्बिता च त्र्स्यत्रा च सा एतदद्वितयान्विता॥
निष्कामादिप्रयुक्तेन योज्या चापपुटेन तु॥380॥

अर्थात्–विलम्बित ध्रुवा त्र्यस्त्र में हुआ करती है तथा यह इन दोनों के जोड़ से होती है। उसका मिलान निष्क्राम के साथ प्रारम्भ होने वाले चच्चत्पुट से होना चाहिए।

पादान्ते सन्निपातस्य द्विपादा युग्मसंज्ञिता॥
चञ्चत्पुटेन संयोज्या द्विकलेन यथाविधि॥
शीर्षकाणि च योज्यानि द्विविधं पञ्चपाणिना॥381॥

अर्थात्–पाद के अन्त में होने वाले सन्निपात से युक्त पादों को द्वितीय और चौथे पाद को द्विकल चच्चत्पुट ताल करते हुए होनी चाहिए तथा शीर्षक को पंचपाणि **अर्थात्** चतुरस्त्र ताल से संयुक्त दो अलग–अलग पद्धतियों में नियोजित करना चाहिए।

चतुर्भिः सन्निपातैश्च सम्यकपादान्तसंस्थितैः॥
पादान्तस्यान्तालस्य द्विमात्रान्तं प्रयोजयेत्॥382॥

अर्थात्–पाद के अन्त में उपस्थित चारों सन्निपातों के साथ पाद के आखिर में नियुक्त ताल की दो मात्राएं रखनी चाहिए।

मात्राद्वयन्तु काले तु झङ्कारैः समतां नयेत्॥
किञ्चिद्विनातिरिक्तायां मात्राभिर्यत्र चेत् कला॥383॥

स्यात् समत्वं नयेत्तां तु क्षयवृद्धया प्रयोगवित्॥
वर्णप्रकर्षेण च स्यात् तालानामपि वर्धनम् ॥384॥

स्याज्झङ्कारो नियुक्तानामक्षरे च कलान्तरम्॥
कलातालप्रमाणेन यत्स्याच्छुकक–कुट्टनम्॥385॥

अर्थात्– इन दो मात्राओं के काल के समान उनकी झंकार भी एक ही तरह एक समान होनी चाहिए तथा जिस समय ध्रुवाओं में किसी अन्य प्रकार से बड़त में कुछ भी हो। वह नाट्य विशारद उसकी निर्धारित की हुई, मात्राओं के अनुकूल उसमें वृद्धि या कमी तथा वर्णों को बढ़ानें से साथ ताल के स्वरूप में भी वृद्धि की जाए। निर्युक्त गीत में अलग एवम् नए तरह की कला को जोडा तो वह झंकार कहलाएगी और यही कला और ताल के योग से शुष्क कुट्टन भी कही जाती है।

तथा ध्रवाणां सर्वेषु कलातालौ प्रयोजयेत॥
भङ्गतालश्च कर्त्तव्यो नत्कुटानां यथाविधि॥386॥

कलापातेन संयुक्तस्तालश्चञ्चत्पुटो भवेत्॥
एष एव पुनस्त्र्यस्त्रः खञ्जके ताल इष्यते॥387॥

अर्थात्–सभी ध्रुवाओं में तब उचित कला तथा ताल को प्रयोग होना चाहिए तथा नत्कुटको की अवस्था में नियमानुसार ताल के खण्डों की व्यवस्था हानी चाहिए। इस समय कला तथा पात के जोड से चच्चत्पुट ताल होना चाहिए। यह ताल खंजक ध्रुवा में त्र्यस्त्र कहलाता है।

पुनः प्रकृतयो ह्येष भङ्गस्त्वाक्रीडितो भवेत्॥
यान्यङ्गानि प्रयुक्तानि ध्रुवास्वथ भवन्ति हि॥388॥

तान्यष्टकलयोगेन योजयेत् षट्कलेन वा॥
एवमेष मया तालो ध्रुवाणां परिकीर्तितः॥389॥

अर्थात्–ध्रुवाओं में प्रयोग होने वाले अंगों की निर्मिति आठ या छः कलाओं से की जाती है तथा इस तरह से भरत मुनि द्वारा ध्रुवाओं के ताल का वर्णन किया गया है।

चतुष्पदावसाने तु सम्प्रवक्ष्यामि लक्षणम्॥
यदेव्या सुकुमाराढ्यं श्रृङ्गाररससंश्रयम्॥390॥
नृत्तं विकल्पितं तस्य काललक्षणमुच्यते॥

अर्थात्–प्रस्तुत श्लोक के अन्तर्गत भरत मुनि द्वारा वर्णित है, कि चतुष्पदा के आगे के लक्षणों को अन्त में व्यख्यित करूगां। अब मैं नृत्त के ताल नियम तथा लक्षणों को कहता हुँ। जो

श्रृंगार रस से सम्बन्धित होते है। उन ललित अथवा सुकुमार जातियों का वर्णन करता हुँ, जिसकी उत्पत्ति देवी पार्वती द्वारा हुई है।

नारीप्रयोज्यं तज्ज्ञेयमाश्रितन्तु चतुष्पदम् ॥391॥
यस्त्रो वा चतुरस्त्रा वा द्विविधा च चतुष्पदा॥

अर्थात्–चतुष्पदा गीत की गायन क्रिया स्त्रियों द्वारा होती है तथा पद दों भागों में विभाजित है– त्र्यस्त्र तथा चतुरस्त्र।

एकस्या वा बहूनां द्वयोर्वा वाक्ययोजनात् ॥392॥
तथा श्रृङ्गारभूयिष्ठा त्रिविधा स्याच्चतुष्पदा॥

प्रवृत्तसंशा विज्ञेया स्थितसंज्ञाश्रया तथा॥393॥
स्थितप्रवृत्तसंज्ञा च त्रिविधा स्यात् पुनश्च सा॥

अर्थात्–चार पदों यह छन्द तीन प्रकार का होता है। जिसका सम्बन्ध श्रृंगार रस से है तथा इसकी गायकी में एक, दो तथा अनेक गायकों का प्रयोग किया जाता है। इसके अन्य तीन प्रकार भी है– स्थित, प्रवृत्त और स्थितप्रवृत्त।

निष्कामश्चैव शम्या च तालशम्या तथैव च॥394॥
तदोत्तमश्च निष्क्रामः सन्निपातस्तथा ऽन्तिमः॥

अष्टाविंशति विकल्पा बुधैर्ज्ञेया चतुष्पदा॥395॥
तस्या विकल्पान् वक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः॥

अर्थात्– चतुष्पदा का ताल क्रम इस प्रकार है। प्रथम निष्क्राम फिर शम्या, ताल तथा शम्या और पुनः से निष्क्रम को बढाते हुए, सन्निपात पर समापन होता है। चतुष्पद के 28 प्रकार के होते है। जिनके लक्षणों तथा विधान को भरत मुनि द्वारा वर्णित किया गया है।

प्रवृत्ताख्या द्रुतलया स्थिताख्या च विलम्बिता॥396॥
स्थितप्रवृत्तसंज्ञा च ज्ञेया मध्यलयाश्रिता॥

ज्ञेयश्चञ्चत्पुटस्तस्य तथा चापपुटः पुनः॥397॥
द्विकलेन विधानेन तस्य पातविधिः स्मृता॥

अर्थात्– द्रुत लय में रखी गई चतुष्पदा को प्रवृत्त कहा जाता है। विलम्बित में की गई चतुष्पदा को स्थित तथा मध्य में होने वाली चारपदों के छन्द स्थित प्रवृत्त कहलाता है। इनमें तालों

का क्रम चच्चत्पुट अथवा चापपुट की होता है तथा इसकी पात क्रिया दो कलाओं के योग से नियुक्त होती है।

बह्वक्षरा च विपुला मागधी चार्धमागधी ॥398॥
समाक्षरपदा चैव तथा च विषमाक्षरा॥

आद्यन्त्यापहरणा विज्ञेया चाप्यनीकिनी ॥399॥
अवसानापहरणा अन्तापहरणा तथा॥

अभ्यन्तरापहरणा तथा चैवार्धनत्कुटा॥400॥
अर्धखञ्जा च मिश्रा च तथा चैवाथ शीर्षका॥

एकावसाना विज्ञेया तथा च नियताक्षरा॥ 401॥
अर्धप्रवृत्ता एतासां लक्षणं श्रूयतामिदम्॥

अर्थात्– भरत मुनि द्वारा चतुष्पदा के सतरह भेदों के नाम और उनकी क्रम संख्या इस प्रकार है–1:बह्वक्षरा, 2:विपुला, 3:मागधी, 4:अर्धमागधी, 5:समाक्षरपदा, 6:विषमाक्षरा, 7:आद्यन्त्यापहरणा, 8:अनीकिनी, 9:अवसानापहरणा, 10:अभ्यन्तरापहरणा, 11:अर्द्धनत्कुटा, 12:अर्धखञ्जा, 13:मिश्रा, 14:शीर्षका, 15:एकावासाना, 16:नियताक्षरा, 17:अर्धप्रवृत्ता।

व्यक्तवाक् या लघुप्राया लध्वक्षरसमन्विता ॥402॥
द्रतवाक्या द्रुतलया शेया बह्वक्षरेति सा॥

अर्थात्–वह गीत जो साफ–साफ शब्दों में प्रकट होता हो और जो लघु अक्षरों से बंधा हुआ हो तथा लघु मात्राओं से जुड़ा हुआ हो, जिसमें शब्दों को बहुत जल्दी–जल्दी बोला जाए या गाया जाया तथा जो द्रुत में हो वह बहुक्षरा कहा जाता है या जाना जाता है।

गुरुप्लुताक्षरप्राया स्वल्पवाक्या यदा तथा॥403॥
त्रिलया विपुलाख्या च सुकुमारविधौ स्मृता॥

अर्थात्– वह गीत जिसकी रचना गुरू और प्लुत अक्षरों से होती हो और जिसमें छोटे–छोटे वाक्य तथा शब्दों को रखा गया हो और उसमें तीन प्रकार की लय का अच्छे से उपयोग किया जाए और सुकुमार नियम से सम्बन्धित हो वह विपुला गीत कहलाता है।

त्रिलया त्रियतिश्चैव त्रिप्रकाराक्षरान्विता ॥404॥
एकविंशत्तिाला च मागधी सम्प्रकीर्तिता॥

अर्थात्– जिस गीत में तीनों लय का प्रयोग होता हो और जिसमें तीनों यतियों का भी प्रयोग हो तथा उसमें तीनों तरह के वर्णों लघु, गुरू और प्लुत का समान रूप से नियोजन किया जाए और जिसमें इक्कीस कलाओं की तालों का भी प्रयोग हो, वह गीत मागधी कहा जाता है।

गुरुलध्वक्षरकृता द्रुतमध्यलयान्विता ॥405॥
मागध्येवार्धतालेन' युक्ता स्यादर्धमागधी॥

अर्थात्– जिस गीत में मात्र गुरू और लघु वर्ण होते हो और लय भी दो प्रकार की हो द्रुत और मध्य तथा ताल प्रमाण भी मागधी गीत की कलाओं से आधी कलाओं से नियुक्त हो तब यह अर्धमगधी कहा जाएगा।

गुरुलाघवमात्राभिः पदवर्णैस्तथैव च ॥406॥
लयतालैः समैश्चैव समाक्षरपदा स्मृता ॥

अर्थात्–समाक्षर पदा गीत के बारे में बताते हुए कहा है, कि जिस गीत में लघु तथा गुरू के वर्णों की संख्या और मात्राओं की संख्या एक समान हो तथा जिसके लय, पाद वर्ण और ताल एक जैसा स्वरूप नियोजित हो, वह गीत समाक्षर पदा कहा जाएगा।

अक्षरैर्विषमायान्तु मात्रापादैस्तथैव च ॥407॥
लयतालैरनियमा सा ज्ञेया विषमाक्षरा॥

अर्थात्– वह गीत जिसके अर्न्तगत वर्ण तथा मात्राओं की संख्या असमानता रखी जाती हो तथा जिसकी पदों की संख्या भी समान रूप में न हो और उसकी लय, ताल भी निर्धारित न हो, वह गीत विषमाक्षरा गीत कहा जाता है।

यः स्यात्त्वन्त्यः सन्निपातः सानुस्वारोऽन्त्य दृष्यते ॥408॥
आद्यान्त्यापहरणा च सानुस्वारकृता तथा ॥

अर्थात्– सन्निपात और अनुस्वार की योजना से जिस गीत की रचना हुई हो तथा इन दोनों का उपयोग उस गीत के समाप्त में होता हो, तो वह गीत अन्त्यापहरण कहा जाता है।

मध्याद्यन्तैः सन्निपातैरनुस्वारकृताक्षरैः ॥409॥
शेषैरनियता पादैर्विज्ञेया सा त्वनीकिनी ॥

अर्थात्– जिस गीत के मध्य, प्रथम और अन्त में अनुस्वार के योग से अक्षर होते हो तथा जिसके हर एक पाद में इस तरह का कोई भी विधान लागु न होता हो इस प्रकार का गीत अनीकिनी जाना जाता है।

अवसानापहरणा नित्यं ज्ञेयाऽमिताक्षरा ॥410॥
अनुस्वारगुता चैवमन्तापहरणा स्मृता ॥

अर्थात्– जिस गीत के पदों में अक्षरों का मान निर्धारित हो, वह गीत अवसानस पहरणा होता है तथा जिस गीत में अनुस्वार के साथ द्रुत लय रखने का नियम होता है। उस गीत को अन्तापहरणा कहा जाता है।

द्वितीया सन्निपातेन मध्येऽक्षरसमन्विता ॥411॥
अभ्यन्तरापहरणा सानुस्वारेव सा स्मृता ॥

अर्थात्– जिस गीत प्रकार में दो कलाओं का सन्निपात होता हो तथा जिसके बीच वाले भाग में **अर्थात्** मध्यभाग में अक्षरों की अवस्था हो तथा जो गीत अनुस्वार से जुड़ा हुआ हो, वह गीत अभ्यन्तरापहरण समझना चाहिए।

अर्धन भिद्यते या तु विज्ञेया सार्धनत्कुटा ॥412॥
त्र्यस्त्रा ह्यनेन विधिना ह्यर्धखञ्जेव कीर्त्यते ॥

अर्थात्– जो गीत के आधे भाग में बटां हुआ हो, वह अर्द्धनत्कुटा कहा जाता है और इसी नियम के अनुसार जिसमें त्र्यस्त्र ताल का प्रयोग होता हो, वह अर्द्धखजा गीत जाना जाता है।

खञ्जनत्कुटनाभ्यां तु मिश्रभावो यदा भवेत् ॥413॥
त्र्यस्त्रा वा चतुरस्त्रा वा तदा मिश्रेव कीर्त्यते॥

अर्थात्– खंज तथा नत्कुटक गीत के मिश्रण से जिस गीत की उत्पत्ति हो तथा जिस गीत के गायन में त्र्यस्त्र और चतुरस्त्र ताल का प्रयोग होता है वह गीत मिश्र कहलाता है।

उपक्षेपेण यस्यास्तु स एवार्धः समाप्यते ॥414॥
शीर्षक सा तु विज्ञेया शीर्षकेण' विभूषिता ॥

अर्थात्– वह गीत जो शीर्षक में सम्मिलित हो तथा जिसके आधे भाग में ही उसका आरम्भ तथा समापन्न हो जाए, तो वह गीत शीर्षक कहा जाता है।

एकपादावसानस्तु यस्य स्यादर्धवर्णतः ॥415॥
एकावसाना विबुधैः सा ज्ञेया तु चतुष्पदा ॥
पूर्वपादेन तस्य स्यात् सर्वत्र गुरुलाघवम् ॥

अर्थात्– जिस चतुष्पदा गीत का एक पाद का समापन आधी मात्रा द्वारा होता हो तथा जिसके आरम्भिक पाद में लघु तथा गुरू वर्णों का नियोजन हो, वह गीत प्रकार एकावसाना समझना चाहिए।

पादे पादे तु विज्ञेया शीर्षकेण विभूषिता ॥416॥
एकपादावसाने च सा ज्ञेया नियताक्षरा ॥

अर्थात्– जो गीत एकावासाना गीत के हर एक पाद तथा एक वह पाद एक शीर्षक में सुम्मिलित होकर पूरा होता है तो वह गीत नियताक्षर कहा जाएगा।

यस्या स्थितं प्रवृत्तं वा भवत्यर्धनिवेशितम् ॥417॥
अर्धप्रवृत्ता सा तु स्यादुभाभ्यामपि वा कृता ॥

निष्कामश्चौव शम्या च तालः शम्या तथैव च ॥418॥
आवापः सन्निपातश्च षडस्या ग्राहकाः स्मृताः॥

अर्थात्– वह गीत जिसके हर आधे भाग में स्थित तथा प्रवुत्ति का प्रयोग होता हो तथा इस प्रकार से इन दोनों के संयोग से उत्पन्न होने के कारण, यह गीत अर्द्धप्रवत्ता कहा जाता है। इसकी गीत की ताल क्रिया इस तरह से है। निष्क्राम फिर शम्या, ताल, शम्या, आवाप और अन्त में सन्निपात होता है। ये छः इसके ग्रहक भी कहे गए है।

उपोहन्नतु त्रिविधं सुकुमारे प्रकीर्तितम् ॥419॥
द्वधवा त्रिपरं तस्य कलाभिः प्रत्युपोहनम् ॥
द्विकलाख्थं चान्तकलं सन्निपातपरं स्मृतम् ॥420॥

अर्थात्– सुकुमार नृत्य प्रकार की उपोहन क्रिया तीन प्रकार की जाती है तथा उसके साथ प्रत्युपोहन भी होता है, जो कम से कम दो कलाओं और अधिक से अधिक तीन कलाओं का होता है। इसकी समाप्ति दो कलाओं के सन्निपात के साथ की जाती है।

सन्निपातापहरणा आदौ मध्येऽन्तोऽपि वा ॥
वाक्यद्वयाभिनिष्पन्ना नानाचाक्यापि सा स्मृता ॥ 421॥

अर्थात्– गीत के बीच वाले भाग तथा अन्तिम भाग में सन्निपात का आघात किया जाता है तथा इसका समापन दो या दो से अधिक पदों से होता है।

एकपादा द्विपादा वा त्रिपादा च प्रकीर्त्यते॥
चतुष्पदापि वा भूत्वा नातः परमिहेष्यते॥422॥

अर्थात्– इस गीत की रचना में एक पाद, दो पाद तथा तीन पाद या फिर चार पाद की अवस्था होती है। इससे अधिक पदों की आवश्यकता इसमें नहीं होती है।

कृत्वा तु पादबहुलां न शोभां जनयिष्यति॥
वर्णस्य प्रकृति ह्यन्यदङ्गव्यक्ति निरस्यति॥423॥

अर्थात्– अगर इसमें पादों की संख्या बढ़ा दी जाए, तो इसकी शोभा समाप्त हो जाती है तथा इसके वर्णों की आकृति में भी कमी आती है और इससे इसमें अंगों के स्पष्टीकरण में भी कमी आती है।

तस्मात् स्थिता स्याद् द्विपदा एकेनैव पदा स्मृता॥
चतुष्पदा प्रवृत्ता तु सम्यक् प्रोक्ता प्रयोक्तृभिः॥424॥

अर्थात्– अर्थात् स्थिता की रचना हमेशा दो पादों या फिर एक पाद के द्वारा ही होनी चाहिए और चतुष्पदा में प्रवुत्ता की रचना होनी चाहिए।

तत्रैकरूपैकपदा सा हि पाद्पता स्मृता॥
द्वत्रिंशत्परमा सा हि सन्निपातपदा भवेत्॥425॥

अर्थात्– इनमें पाद तथा पात की आकृति एक ही होती है तथा इसका निर्माण एक ही पाद से किया जाता है। इसमें अधिक से अधिक बतीस कलाएं रखी जाती है तथा पाद क्रिया में सन्निपात सुम्मिलित होता है।

आभ्यां मध्यप्रमाणे तु त्रिपादः परिकीत्यते॥
सन्निपात–प्रमाणेन ज्ञेयो मध्यलयस्तथा॥426॥

अर्थात्– इसमें मध्य अनुमान की आकृति के लिए तीन पादों की नियुक्ति की जाती है तथा इसमें सन्निपात को सिद्ध करते है, तथा उसको प्रस्तुत करते हुए, इसकी लय मध्य रखी जाती **अर्थात्** मान्नी चाहिए।

लास्यमित्येव यत् पूर्वे मया वः परिकीर्तितम् ॥
लक्षणं तस्य वक्ष्यामि प्रयोगच्च यथाक्रमम् ॥427 ॥

अर्थात्—प्रस्तुत श्लोक में भरत मुनि द्वारा पहले कहे गये, लास्य के लक्षण और उसका प्रयोग करने की विधि बतलाने की बात की गई।

लासनाल्लास्यमित्युक्तं स्त्री—पुम्भावसमाश्चयम् ॥
भाणवच्चैकहार्ये स्यादूहवस्तु च तद्भवेत् ॥428 ॥

अर्थात्—यह अत्यन्त शोभायमान या फिर शोभित होने की अवस्था में रहनें के कारण इसे लास्य कहा गया व इसको लास्य कहने का एक कारण यह भी है कि यह स्त्री और पुरूष के आपसी लुभाव को भी इसका आधार माना है। तथा यह भाण नाटक के तरह ही यह एक उपर्युक्त या योग्य व्यक्ति द्वारा इसकी नियुक्ति की जाती है तथा इसका कोई भी उचित प्रसंग में आयोजित किया जा सकता है।

एकार्थ पृथगर्थ वा तदङ्गेषु प्रकीर्तितम ॥
अङ्गानि दश चैवास्य तेषां वक्ष्यामि लक्षणम् ॥429 ॥

अर्थात्—इसका प्रसंग एक या उससे अधिक अर्थों को लेकर हुआ करता है, तथा इसको अलग—अलग तरीके से या फिर अलग—अलग नियमों से सम्बन्धित करते हुए किया जाता है। प्रस्तुत श्लोक में भरत मुनि द्वारा लस्य के दस अंगों के लक्षण बतलाने की बात का वर्णन किया गया है।

उक्तप्रत्युक्तभावञ्च लास्यङ्गानि प्रकीर्तिताः ॥431 ॥
लास्ये दशविधं ह्येतदङ्गनिर्देश लक्षणम् ॥

अर्थात्—भरत मुनि द्वारा लास्य के अंगो के नाम इस प्रकार कहे गए है, जो क्रमशः 1ः गेयपद 2ः स्थितपाठय, 3ः आसीन, 4ः पुष्पगण्डिका, 5ः प्रच्छेदक, 6ः त्रिमूढ़क, 7ः सैन्धवक, 8ः द्विमूढ़, 9ःउतमोक्तमक, 10ःविचित्रपद, 11ःउक्तप्रत्युक्त और 12ःभावित

आसीनपाठ्यं योज्यं स्यात् प्रयत्नादासनस्थया ॥432 ॥
स्थितपाठ्य पुनश्चैव भौमीचारीभिरन्वितम् ॥

नृत्तकाले च वाद्ये च ग्रहमोक्षे तथैव च ॥433 ॥
गीताङ्गानां विधिर्यः न्यात् स लास्ये प्रायशः स्मृताः ॥

अर्थात्–जिस अंग को नियुक्ति विधिपूर्वक आसन पर बैठकर की जाए, वह आसीन अंग कहा जाता है और भौमीचारी के अंतर्गत स्थितपाठ्य का वर्णन किया गया है। इसका प्रयोग गायन, वादन तथा नृत्य के अरम्भ और अन्त में किया जाता है। गायन, वादन तथा नृत्य के जिन नियमों को अवश्यक बताया गया है। वही नियम लास्य के लिए भी उपयोगी है।

अङ्गान्येतानि लास्ये स्युर्दशोक्तानि समासतः ॥434॥
ऐषात्र्चैव वक्ष्यामि प्रयोगं लक्षणन्तथा॥

अर्थात्–भरत मुनि के द्वारा लास्य के दस नियमों का संक्षेप में वर्णन प्रस्तुत किया गया है और उन्हीं के लक्षणों को विधिपूर्वक प्रयोग करने का वर्णन किया है।

तत्र गेयपदं तावत् प्रथमं परिकीर्त्यते॥
स्थापिते भाण्डविन्यासे पटे चैवापकर्षिते॥435॥

ब्रह्मणः पुष्पवर्षे तु चासने परिकल्पिते॥
मार्जितेषु मृदङ्गेषु प्रयुक्ते च त्रिसाम्नि तु॥436॥

प्राक् शुष्कासारितं कार्य त्त त्रिवेणुप्रयोजितम्॥
मार्गासारित्तालेन त्तश्चासारितं बुधैः॥437॥

अर्थात्–प्रत्येक वाद्य को उसके वाद्य क्रमानुसार निधारित स्थान पर स्थापित किया जा चुका हो और रंगमंच के पर्दें को हटा दिया गया हो और ब्रम्हा जी की पूर्ण विधि अनुसार पूजन–अर्चन तथा पुष्प समर्पित किए गए हो, निश्चित स्थानों पर वादकों ने वाद्यों के साथ अपना आसन ग्रहण कर लिया हो तथा मृदंग वादकों द्वारा अपने वाद्य को निश्चित स्वर (मार्जना) में मिला लिया गया हो। त्रिसाम गान का गायन सम्पन्न हो चुका हो तब नाट्य प्रयोग के अर्न्तगत दत्तजन तीन बांसुरियों के वादन विधि में शुष्क आसारितों का प्रदर्शन करना चाहिए और उसी स्थान पर ही आसारित को निश्चित मार्गासारित ताल में प्रदर्शित करना चाहिए।

परिवृत्तैस्त्रिभियुक्तमतश्चोपोहनं भवेत्॥
त्र्यस्त्रेण द्विकलेन स्यात् त्तश्च परिधानकम्॥438॥

प्रयोक्तव्यं प्रयोगज्ञैः परिवर्तात्मकं तथा॥
परिवर्ते तथैवास्य पुंवाक्यं प्राक् समाचरेत्॥439॥

त्रिवाक्यः पुरुषोऽत्र स्याचतुर्वाक्याऽङ्गना स्मृता ॥
कार्य तथा निर्वहणं प्राप्त्यर्थ परिधानके ॥440 ॥
इत्येत् प्रथमं त्वङ्ग लास्ये गेयपदं स्मृतम् ॥

अर्थात्– त्तपश्चात त्र्यस्त्र ताल में दो कलाओं का उपोहन किया जाता है तथा उसके बाद तीन परिवर्तन को रखा जाता है। यह नियम पूर्वरंग के अंगों से सम्बधित होता है। उसके बाद प्रतिधानक को चतुरंजन प्ररिवृत्ति के योग द्वारा उपस्थित किया जाता है। सबसे पहले परिवर्तन के समय पुरूषपात्र के द्वारा एक शब्दावली का संभाषण किया जाता है तथा चार वाक्यों का संग्रहित रूप पुरूष कहलाता है, तथा चार वाक्यों का संग्रहित रूप अंगना कहा जाता है। इसका प्रस्तुतीकरणी निर्वाहण में परिघानक उपार्जन करने के लिए किया जाता है। लास्य के अर्न्तगत इसी अंग को लास्य में गेयपद कहा गया है।

स्थितपाय्यस्य वक्ष्यामि विधानश्चाप्यतः परम् ॥441 ॥
वृत्तमेकमथ द्वे वा योजयेत् पञ्चपाणिना ॥

अतः परञ्च द्वे भूयः खञ्जके सम्प्रयोजयेत् ॥442 ॥
चञ्चत्पुटेन कर्त्तव्या द्विकलेन त्तः परम् ॥

यथाक्षरेण चायुक्ता सन्निपातैस्तथाऽष्टभिः ॥443 ॥
अवसाने तु योक्तव्यं त्वरितं पञ्चपाणिना ॥
द्विकलेनेति कर्त्तव्य स्थिनपाठ्यं प्रयोक्तृभिः ॥444 ॥

अर्थात्–प्रस्तुत श्लोक में भरत मुनि द्वारा स्थितपाठय का वर्णन किया गाया है। इसके अर्न्तगत एक व दो वृत्तो को पंचपाणि ताल में गाने का वर्णन किया है तथा दो खंजको के द्विकला में चच्चत्पुट ताल के प्रदर्शित किया जाता है। इस ताल स्वरूप यथाक्षर ताल के समान होता है। जिसके अर्न्तगत आठ सन्निपात व अन्त में दो कला का चच्चत्पुट ताल की द्रुतलय के साथ होता है।

उपाह्य तालं त्र्यस्त्रश्च वृहत्पादपदैः समः ॥
आसीनपाठ्यं युञ्जीत सर्वैर्भावैम्तु पौरुषैः ॥445 ॥

अर्थात्–आसीन पाठय को त्र्यस्त्र ताल अर्न्तगत व्यवस्थित रूप से नियुक्त किया जाता है। जिसमें एक गीत सम तथा उसमें पादों की क्रिया लम्बी रहती है तथा जिसके अर्न्तगत उसके प्राक्रम के भावों की व्यख्या की जाती है।

गेयं चतुर्भिः पादैस्तु समैरर्थवशानुगैः॥
आसीनपाठ्यं कर्त्तव्यं विधिवत् पञ्चपाणिना॥446॥

अर्थात्– इस तरह से आसीन पाठय को चार पादों वाले गीत में प्रस्तुत किया जाता है तथा उसमें एक पंचपाणि ताल में गीत के गायन तथा उसके भावों की व्याख्या की जाती है।

आसीनपाठ्ये कर्त्तव्यः प्रयोगः शीर्षकस्य तु॥
अष्टभिः सन्निपातैश्च युक्तस्तालादिनैव तु॥447॥

अर्थात्–आठ सन्निपात और शीर्षक का प्रयोग तालों के योग के साथ आसीन पाठय में होना चाहिए।

यथाक्षरप्रवृत्तेन विधिवत् पञ्चपाणिना॥
द्वितीयपरिवर्तस्य सन्निपाते तथाष्टमे॥448॥

अतीते युग्मतालेन श्लोकः कार्यः त्तः परम्॥
आसीनपाठ्ये यद् वाद्यमवनद्धकृतं भवेत्॥449॥
आसीने गात्र सञ्चारैस्तत्र साम्यं प्रयोजयेत्॥

अर्थात्–इसका प्रयोग यथाक्षर पंचपाणि ताल में नियम पूर्वक किया जाना चाहिए। इसके परिवर्तन में द्वितीय भाग में जब आठ सन्निपात पूरे हो चुके हो, तब एक श्लोक का गान चतुरस्त्र ताल के अर्न्तगत करना चाहिए, जो वाद्य वादन नियम आसीन पाठय में की जाती है। उसी के अर्न्तगत शरीर में होने वाले भागों में होने वाले विप्लव के माध्यम से संतुलन को स्थापित किया जाना चाहिए।

अष्टादश द्वादश वा पदानि च त्तः पुनः॥450॥
कुर्यादुत्तरतालेन त्तो निर्वहणं बुधैः॥
एतदासीनपाठ्यस्य विधान परिकीर्तितम्॥451॥

अर्थात्–उस समय अठ्ठारह अथवा बारह श्लोकों का गान किया जाना चाहिए तथा निर्वहण का समापन उत्तर ताल में किया जाए, जिन नियमों का वर्णन यहां किया गया है, उन्हीं नियमों को आसीन पाठय के नियम कहा गया है।

विचित्रवृत्तसंयुक्तं पुँस्त्रियोर्गतिचेषितैः॥
अन्योन्यान्तरिते नित्यं गीतवाद्येन भूषितम्॥452॥

पादे पादेऽङ्गहारैश्च वाद्येन च समन्वितम्॥
स्यात् पुष्पगण्डिका नाम यदङ्गं तन्निबोधत॥453॥

अर्थात्—प्रस्तुत श्लोक के अर्न्तगत भरत मुनि द्वारा लास्य के पुष्पगण्डिका नामक अंग को वर्णित करते हुए कहा है, कि जिसको भिन्न–भिन्न प्रकार के छन्दों के अर्न्तगत संस्थापित किया गया हो, जिसमें गायन तथा वादन में एक के बाद एक को **अर्थात्** एकान्तरिम रूप में स्थापित किया जाता हो तथा गीत के हर एक श्लोक को गान के समय के परिणाम स्वरूप अंगहारों की प्रस्तुती तथा वादन विधि की जाती है।

तत्रैकं पौरुषं श्लोक समावृत्तं प्रयोजयेत्॥
चतुर्भिः सन्निपातैश्च ज्ञेयं चञ्चत्पुटाश्रयम्॥454॥
पादे पादे तथेष्टश्च वाद्यं नृत्तं तथैव च॥

अर्थात्—तब वहाँ एक योग्य पुरूष के द्वारा समवृत छन्द के अर्न्तगत एक गीत का गायन किया जाता है तथा गायन समय हर एक श्लोक में यथेष्ट अथवा उचित नृत को और चच्चत्पुट ताल में वाद्यवादन को चार सन्निपात के योग से किया जाता है।

त्तश्चान्ये स्मृते वृत्ते खञ्जनत्कुटसंज्ञिते॥455॥
अन्ते निर्वहणे चास्य शीर्षकं पञ्चपाणिना॥
आविद्धचार्यङ्गहारैरुद्धतैस्त् प्रयोजयेत्॥456॥

अर्थात्—इन सभी गायन प्रक्रिया के दौरान खंजनत्कुटक जाति नामक छन्द में दो प्रकार के गीतों की गायन क्रिया को जान्ना चाहिए तथा उसके अन्त में शीर्षक का प्रयोग पंचपाणि ताल में किया जाना चाहिए तथा उसमें प्रयोग होने वाले नृत्य को आविद्धचारी में उद्वत अंगहारों को स्थान देना चाहिए।

त्र्यङ्गं द्विधातु प्रच्छेदं विद्यालास्यप्रयोगवित्॥
ज्योत्स्नायां मन्दिरे वाऽपि सलिलै दर्पणेऽथवा॥457॥

छायां सन्दृश्य कान्तस्य प्रहर्षणविभूषितम्॥
नृत्तप्रधान क्रीडाव्यं हेलादिभिरलकृतम्॥458॥
अङ्ग प्रच्छेदकं तत्र विद्याल्लास्यप्रयोगवित॥

अर्थात्—जिसका निर्माण दो धातुओं तथा तीन अंगों द्वारा होता है तथा जिसका प्रयोग लास्य में उचित रूप से किया जाता है। उसे विद्वानों द्वारा प्रच्छेदक कहा गया है। प्रच्छेदक को वयक्त करते हुए कहा है, कि नायिका द्वारा अपने प्रिय की छवि को प्रत्यक्ष रूप में चांदनी रात में देखते हुए। उसका आत्मविभोर होने व किसी मंदिर आदि पवित्र स्थान पर अपने

प्रियतम की छवि को निहारने का वर्णन किया जाता है। जिसमें नृत्त को महत्वता प्रदान की गई है व आमोद–प्रमोद को पूर्ण स्थान दिया गया है व हेला आदि प्रकार के हाव–भाव का नियोजन किया जाता है।

चञ्चत्पुटस्य तालेन तस्या प्रक्रीडितं भवेत् ॥459 ॥
मात्रावृत्तसमैः पादैः सन्निपातैस्तथाष्टभिः ॥

बह्वक्षरार्थसंयुक्त तोटकं पञ्चपाणिना ॥460 ॥
द्विकलेन प्रकर्त्तव्यं मिश्रेणैककलेन वा ॥

शीर्षकञ्च प्रकर्त्तव्यं गुरुपायाक्षरान्वितम् ॥461
यथाक्षरेण त्र्यस्त्रेण सन्निपातस्तथाष्टभिः ॥

विधिककसंयुक्तं कैशिकीजातिसंश्रयम् ॥462 ॥
अङ्ग प्रच्छेदकं विद्याद् युक्तं प्रकीडितादिभिः ॥

अर्थात्–इसमें चच्चत्पुट ताल में ऐसे गीत प्रकार में आमोद–प्रमोद किया गए, दो गीत समपाद और मात्रिक छन्द से युक्त हो तथा जिसमें आठ सन्निपात हो या उसमें एक गीत तोटक छन्द में हो और बहुत सारे वर्णों और अर्थों का सुम्मेलन हो और जो पंचपाणि ताल के दो कला, एक कला या इन दोनों कलाओं के मिश्रण से किसी भी एक प्रकार का योग हो इसके शीर्षक का निर्माण यथाक्षर गरू अक्षरों से होता है और इसकी प्रस्तुती आठ सन्निपात को त्र्यस्त्र ताल प्रकार के यथाक्षर रूप में किया जाता है। जिन गीतों में विवध या एकक का मिश्रण होता है, ऐसे गीतों के साथ इसमें आमोद–प्रमोद किया जाता है तथा इनका सम्बन्ध कौशिकी जाति से रहता है। इस प्रकार बताये गये लक्षणों से सम्मिलित लास्य अंग को प्रच्छेदक माना चाहिए।

अनिष्ठुरलक्ष्णपादं गान्धारीजातिमाश्रितम् ॥463 ॥
चच्चत्पुटेन योक्तव्यं त्रिमूढ द्विकलेन तु ॥

चतुःषष्टिः सन्निपातास्तस्मिंश्चैव प्रकीर्तिताः ॥464 ॥
यथामार्गकलोपेता विदारीविवधान्विताः ॥

अङ्गहारान् सविष्कम्भान् नैव चात्र प्रयोजयेत् ॥465 ॥
केवलं पौरुषैर्भावैः पाठ्यं नाट्ययुतं नयेत् ॥

नत्कुटं खञ्जकञ्चैव विधानेन प्रयोजयेत् ॥466 ॥
इति त्रिमूढमुद्दिष्टं नानारससमाश्रयम् ॥

अर्थात्—प्रस्तुत श्लोक में भरत मुनि द्वारा कहा गया है, कि जिसे त्रिमूढ़क लास्य अंग को बताया है, वह कोमल अक्षरों वाला और स्नेहभाव से सम्पूर्ण संग्रहित होती है। यह गान्धारी जाति के अर्न्तगत आता है तथा इसको चच्चत्पुट ताल की दो कलाओं में किया जाता है। इसके अर्न्तगत चौसठ सन्निपातों को स्थान दिया है। तक्रसंगत मार्ग में निश्चित कलाओं को रखकर और विदारियों तथा विवध करते हुए किया जाता है, लेकिन इसके अर्न्तगत किसी भी प्रकार के अंगहारों अथवा विष्कम्भक को स्थान नहीं दिया जाता है। इसमें वाद्य वादन विधि के साथ पराक्रम युक्त संभाषण का परिवर्तनकारी निष्पादन किया जाता है, तथा नियम अन्त में नत्कुटक तथा खंजक को उपयोग में लाया जाता है, जिसका निर्माण विभिन्न रसों के योग से होता है, उसे त्रिमुढ़क कहा जाता है।

नातिस्पष्टाङ्गहारन्तु नातिरेचकभूषितम् ॥467 ॥
सैन्धवीमाश्रितं भाषां ज्ञेयं सैन्धवकं बुधैः ॥
रूपं वाद्यादिसंयुक्त सैन्धर्व स्यादथोद्धतम् ॥468 ॥

अर्थात्— सैन्धवक का वर्णन करते हुए कहा है, कि जिसमें रेचकों का अत्याधिक उपयोग न किया गया हो और अंगहारों को पूर्ण रूप से स्पष्ट किया गया हो और सैन्धवी भाषा में जिसे स्थान किया गया हो और जो उद्धत छन्द की शैली में निबद्ध हो व इसके साथ वाद्य वादन भी किया जाता है, इस प्रकार सैन्धवक का वर्णन प्रस्तुत श्लोक में किया गया है।

न पाठ्य स्वल्पमप्यत्र प्रकुर्वीत विचक्षणः ॥
वितस्तालप्तिलेशाढ्य सैन्धवे वाद्यमिष्यते ॥469 ॥

मृदङ्गहारबहुलं गुरुपायाक्षरान्वितम् ॥
आक्रीडितस्य भागेन युग्मतालकृतेन हि ॥47० ॥
विशत्या सन्निपातानां युक्तं सैन्धवकं भवेत् ॥

अर्थात्—इसके अंर्तगत न्यूनतम रूप में भी संभाषण नहीं किया जाता है और वितस्त और आलप्ति मार्ग युक्त वाद्य की वादन क्रिया को किया जाता है तथा इनके निर्माण में गुरू अक्षरों का अधिक प्रयोग होता है, जिसका प्रस्तुती मृद अंगहारों का अनुसरण करते हुए चलती है।

इस सैन्धवक का प्रयोग चतुरस्त्र ताल के मार्ग भेदों के भागों में किया जाता है। जिसके अर्न्तगत बीस सन्निपातों का समावेश होता है।

मुखप्रतिमुखोपेतं तथा चापपुटाश्रयम् ॥471 ॥
यथाक्षरैः सन्निपातैस्तथा द्वादशभिर्युतम् ॥

नैकयुक्तिविचित्रार्थे पौरुषं भावमाश्रितम् ॥ 472 ॥
एकाङ्गं शीर्षकाङ्गं वा द्विमूढं परिकीर्तितम् ॥

अर्थात्—जिस लास्य अंग के मुख तथा प्रतिमुख को चापपुट ताल में तथा उसमें बारह सन्निपातों से सम्मिलित करते हुए किया जाता है, उस लास्य अंग को द्विमुढ़क कहा जाता है। इसके अर्न्तगत पाठ को एक से अधिक विषयों को लेकर किया जाता है। जिसमें कई प्रकार के अर्थ होते है और इसको पराक्रम भाव से युक्त होते हुए, इसका निर्माण एक अंग या फिर शीर्षक अंग के द्वारा किया जाता है।

उत्तमोत्तमके त्वादौ नत्कुटं सम्प्रयोजयेत् ॥473 ॥
त्तः श्लोकं विचित्रार्थे तथा चैवोपपादयेत् ॥

त्तश्च वस्तुकं कार्यमपरान्तकशाखाया ॥474 ॥
यथाक्षरेण कार्यन्तु शीर्षकं पञ्चपाणिना ॥
उत्तमोत्तमकं प्रोक्तं हेलाभाव विभूषितम् ॥475 ॥

अर्थात्—उत्तमोत्तम लास्य अंग में सबसे पहले गान क्रिया एक नत्कुटक के अर्न्तगत की जाती है। उसके पश्चात् इसमें एक विभिन्न अर्थों से पूर्ण श्लोक का गान किया जाता है और इसकी प्रस्तुती इसके गीत के विषय को अपरान्तक शाखा में करते हुए और उसमें होने वाले शीर्षक को पंचपाणि ताल के यथाक्षर रूप के अंर्तगत हेला आदि का वर्णन करते हुए करनी चाहिए।

कोपप्रसादबहुलं साधिक्षेपैरुपक्रमैः ॥
संल्लापरुचिरैर्नित्यमुक्तप्रत्युक्तमिष्यते ॥476 ॥

वस्त्वर्धेन प्रकर्यास्तु तस्य तालविधिः स्मृतः ॥
त्तस्तु शीर्षकं कार्य संयुक्तं पञ्चपाणिना ॥477 ॥

वज्र सम्पिष्टकं चैव तासां त्र्यस्त्रोऽत पव च ॥
उक्तप्रत्युक्तमेवं हि प्रसादान्तं प्रयोजयेत् ॥478 ॥

अर्थात्– लास्य अंग में क्रोध तथा उसके अनेक प्रकारों की अधिकता हो और जिसके अर्न्तगत संभाषण सुन्दर होता हो तथा प्रशंसा परक क्रियांए होती हो, ऐसे लास्य अंग को उक्त प्रत्युक्त कहा जाता है। इसमें ताल में प्रकारों का आधा भाग होता है। त्तपश्चात् शीर्षक का प्रयोग पंचपाणि ताल में होता है और त्र्यस्त्र ताल में वस्तु तथा सम्पिष्टक हुआ करता है तथा उक्त प्रयुक्त का समापन प्रसाद पर होता है।

दशाङ्ग लास्यमित्येतन्मया चः परिकीर्तितम् ॥
प्रकरणे दशाङ्गानि यत्रैकस्मिन् भवन्ति हि ॥479 ॥

अर्थात्–भरत मुनि द्वारा प्रस्तुत श्लोक वर्णन किया गया है, कि जिन दस प्रकारों का वर्णन पीछे दिया गया है, वही लास्य के दस प्रकार होते है और यही दस प्रकार प्रकरण में भी व्यक्त स्थित होते है।

सञ्चार इति विज्ञेयो लास्यच्छेदे विपर्ययात् ॥
एवमेतद् बुधैर्ज्ञेयं गीत्तालविकल्पनम् ॥480 ॥

यतः कार्यः प्रयत्नस्तु नाट्यं ताले प्रतिष्ठितम् ॥
सर्वस्येव हि नाट्यस्य आतोद्यानां तथैव च ॥481 ॥

तालं कालेन संयुक्तं भवेन्नित्यं प्रमाणतः ॥
हीनं प्रकृष्टवर्ण वा गानं तालेन धार्यते ॥482 ॥
तस्मादेत्त् प्रयत्नेन विज्ञातव्यं प्रयोक्तृभिः ॥

अर्थात्–लास्य के अंर्तगत 'संचार' उसकों कहा जाता है, जिसके द्वारा लास्य में होने वाले क्रम को तोडकर उसकी विपरित दिशा में कार्य करता हो। लास्यों में गीत के साथ प्रयोग होने वाले तालों का यही वर्णन प्राप्त होता है। नाट्य ताल आसारित होता है, इसलिए सदैव ताल का प्रयोग उचित ढ़ंग से करना चाहिए।

प्रत्येक नाटक ताल वध्द्व होता है तथा यही ताल की विधि नाट्य के साथ प्रयोग होने वाले वाद्य के कथन विधि में भी रहता है। काल से युक्त होने पर ताल को मापने का सही नियम कहते है। गीतों में प्रयोग होने वाले वर्णों की आधिकता या न्यून्यता ताल के माध्यम से उसको संरक्षित करती है अर्थात् नाट्य प्रयोगकर्ता को चाहिए कि वह ताल के नियम तथा विधान को सही तरीके से उनका अध्ययन करे।

ऋग्गाथापाणिकादीनां सप्तरूपं प्रकीर्तितम् ॥483॥
चतुष्पदा वर्धमानं ताले चैव विभाव्यते॥
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन कार्यं तालावधारणम् ॥484॥

अर्थात्–प्रस्तुत श्लोक के अर्न्तगत ताल की आवश्यकता का वर्णन करने तथा ताल ज्ञान के महत्व को स्पष्ट करते हुए कहा है कि ऋक, गाथा, पाणिका जैसा सात प्रकार के गीतों और प्रकीर्णक चतुष्पदा तथा वर्धमानक इन सभी को स्पष्ट रूप ताल द्वारा दिखाया जाता है।

यस्तु तालं न जानाति न स गाता न वादकः॥
अङ्गभूता हि तालस्य यतिपाणिलयाः स्मृताः ॥485॥
पूर्वोक्तं चै विधानञ्च तच्च मे सन्निबोधत॥

अर्थात्– ताल का महत्व बताते हुए कहा है, कि ताल का पूर्ण ज्ञान न रखने वाला इंसान न तो गायक हो सकता है और न ही श्रेष्ठ वाद्य वादक। ताल के तीन अंग बताते हुए कहा है, कि यति, पाणि और लय ताल के तीन–तीन विशेष अंग है।

त्रयो लयाश्च विज्ञेया द्रुतमध्यविलम्बिताः ॥486॥
मार्गेषु व्यक्तिमायास्ति गीतवाद्योभयात्मिकाः॥
तिस्त्रस्तु यतयश्चान्या मार्गेषु लयसंश्रयाः ॥487॥

अर्थात्– द्रुत, मध्य और विलम्बित दस प्रकार लय के ये तीन प्रकार बताते हुए कहा है कि इस लय की उत्पत्ति गीतों के अलग–अलब मार्गों और वाद्य के वादन विधि से होती है तथा लय इन दोनों का आधार स्तम्भ है अर्थात् लय इन दोनों में अवश्यक होती है। इसके अलावा लय मार्ग तथा यति में भी विद्यमान होती है।

छन्दोऽक्षरपदानां हि समत्वं यत् प्रकीर्तितम्॥
कलाकालान्तर कृतः स लयो मानसंशितः ॥488॥

अर्थात्–भरत मुनि द्वारा लय को व्यक्त करते हुए कहा गया है, कि ताल को मापने व जिसके द्वारा काल व समय को समझाया जा सकता है तथा अक्षर पद व छन्दों की भी समानता को सपष्ट किया जा सकता है। इस प्रकार लय के विषय में प्रस्तुत श्लोक में वर्णन प्राप्त होता है।

समा स्त्रोतोगता चौव गोपुच्छेति यथाक्रमम्॥
पद वर्णप्रकर्षाणामक्षराणामथापि च ॥489॥
नियमोऽथ यतिः सा तु गीतवाद्यसमाश्रया॥

अर्थात्– यति के तीन प्रकार भरत मुनि द्वारा बताए गए है। यति के तीन प्रकार इस प्रकार है– समा, स्त्रोतोगता और गौपुच्छा यति जब पद, वर्ण का गीत और वाद्य के संरक्षण में आती है। तब उसका विस्तार और उसको अनुशासन में रखनें का कार्य करती है।

आद्यन्ते चैव मध्ये च लयवर्णपदैः समा ॥490॥
वाद्यप्रधाना भूयिष्ठा चित्रा ज्ञेया समा यतिः ॥

अर्थात्– जिस यति के अर्न्तगत पदों तथा वर्णों में समानता रहती हो अर्थात् उसके आरम्भ, मध्य तथा अन्त में श्लोकों तथा अक्षरों एक ही समान या लय में हो, तो वह समा यति कही जाती है। इसका प्रयोग चित्र मार्ग में किया जाता है तथा इसमें वाद्य वादन विधि मुख्य रूप से आवश्यक होती है।

क्वचिच्चैवावतिष्ठते कचिच्चैव प्रधावति ॥491॥
वाद्यश्रुतपथावृत्तौ ज्ञेया स्रोतोगता यतिः ॥

अर्थात्– प्रस्तुत श्लोक में भरत मुनि द्वारा स्त्रोतोगता यति का वर्णन करते हुए, उसकी चाल को बताया गया है कि वह यति जो वाद्यों की संगीतात्मक ध्वनि युक्त रास्ते पर कभी द्रुत गति से आगे की ओर प्रस्थान करते हुए, तो कभी थमते हुए या मध्य गति में विचरण करती है, वह स्त्रोतोगता यति के रूप में जान्नी चाहिए। इसके समस्त लक्षणों तथा नियम वृत्ति मार्ग के अर्न्तगत किया गया है।

गुरुभिलघुभिश्चौवमविभावितमक्षरम् ॥492॥
लम्बिता गेयभूयिष्ठा गोपुच्छा दक्षिणे यतिः ॥

समपाण्यवपाणिश्च तथा उपरिपाणिकम् ॥493॥
पाणिस्तु त्रिविधो ज्ञेयो गीतवाद्यसमाश्रयः ॥

अर्थात्– इस श्लोक में भरत मुनि द्वारा वर्णन किया गया है, कि गीत तथा वाद्य वादन से सम्बन्ध रखते हुए, पाणि के तीन प्रकार बताए गए है जो क्रमशः–सम–पाणि, अवपाणि तथा उपरिपाणि। वर्तमान समय में पाणि को ग्रह की संज्ञा की गयी है।

लयेन यत् समं वाद्यं समपाणिः स उच्यते ॥494॥
लयाद्यदवकृष्टन्तु सोऽवपाणिस्तु संज्ञितः ॥
लयस्योपरि वाद्यं स्यात्तथा चोपरिपाणिकम् ॥495॥

अर्थात्—जब वाद्य की वादन क्रिया लय के साथ–साथ प्रस्तुत होती है, उसे समपाणि कहा जाता है तथा जो वादन विधि लय के आरम्भ होने के पश्चात् प्रारम्भ हो, तो उसे अवपाणि जान्ना चाहिए तथा जिस पाणि में वाद्य की वादन क्रिया की लय को अपने अनुकूल कर लें या फिर लय के आरम्भ होने से पूर्व आरम्भ हो जाए, उसे उपरिपाणि कहा जाता है।

यत्युपान्ताक्षराणाञ्च समवायो लयो भवेत्॥
लयात् प्रभृति एतेषां प्रमाणं परिवर्तते॥496॥

अर्थात्—जब अक्षर की संख्या का जोड़ यति के पहले प्रयोग होता है, वह लय कहलाता है तथा लय के द्वारा इसकी मापन विधि बदल जाती है।

हानिः कलानां कार्या तु शेषेष्वन्येषु पाणिषु॥
तत्र स्थितलयो यो वै सन्निपाते भवेदथ॥497॥

स तु मध्यलयं प्राप्य सन्निपातयं भवेत्॥
द्रुतञ्चापि लयं प्राप्य सन्निपातचतुष्टयम् ॥498॥

अर्थात्—पाणि के अवलम्बित प्रकारों में कलाओं को घटाया जाता है। इसमें जो सन्निपात विलम्बित लय में होता है। वही सन्निपात मध्य लय के अर्न्तगत दो हो जाते है तथा द्रुतलय में उनकी संख्या चार हो जाती है।

यो तत्र चान्तरकृतो द्रुतमध्यलयो हि सः॥
सोऽवपाणिस्तु विज्ञेयस्तज्ज्ञैर्दुतलयाश्रयः ॥499॥

अर्थात्— अवपाणि, उस पाणि को कहा गया है, जो मध्य या द्रुत लय आधारित होती है और जिसमें कला या पता का प्रथक तथा निर्दिष्ट अन्तर पाया जाता है।

मध्ये च यान्तरकला द्रुतमेक्रकला च सा॥
उपर्युपरिपाणिश्च स ज्ञेयो वाद्यसंश्रयः॥500॥

अर्थात्—वाद्य वादन क्रिया में जब एक कला की ताले द्रुत लय में अन्तर–कला हो जाती। उस समय वह उपर्युपरिपाणि कही जाती है।

अतः ऊर्ध्वे कलानान्तु प्रमाणं न विधीयते॥
यतयः पाणयश्चैव लयाश्चैव प्रयोक्तृभिः॥501॥

यथाक्रमं हि कर्त्तव्यं गीतयुक्तिमवेक्ष्य च॥

पर्व ध्रुवतालविधिः कर्त्तव्यः तालयोगतः॥
अत ऊर्ध्वे प्रवक्ष्यामि ध्रुवाणामङ्गकल्पनम्॥502॥

अर्थात्– प्रस्तुत श्लोक में यह वर्णन प्राप्त होता है, कि कलाओं को इससे ज्यादा विस्तार करना नहीं है। नाट्य निदेशक द्वारा यति, पाणि तथा लय को गीत की अवस्था आदि को ध्यान में रखते हुए करना चाहिए। इस ताल नियमों का प्रयोग ध्रुवाओं में किया जाता है, जो ध्रुवा की स्थिति को ध्यान में रखते हुए करना चाहिए।

इस प्रकार नाट्यशास्त्र के इक्कतिसवें अध्याय का विस्तृत अध्ययन किया गया है। इस अध्याय में भरत मुनि द्वारा ताल तथा लय का पूर्णतः वर्णन किया गया है तथा अवनद्ध वाद्यों का वर्णन किया गया है। साथ ही नाट्य के महत्वपूर्ण लक्षणों को गायन में ताल द्वारा बद्ध करते हुए, वर्णित किया गया है। इन समस्त लक्षणों आदि को शोधार्थी द्वारा वर्णित करने का प्रयास किया गया है।

3:3 नाट्याशास्त्र में तालध्याय में वर्णित ताल

भारतीय संगीत में ताल संगीत का अधार स्तम्भ है। संगीत में ताल का उतना ही महत्व है, जितना साहित्य में छन्द का। संगीत में ताल का प्रादुभाव कब से हुआ, इसका कोई ठोस प्रमाण नहीं है। भारतीय संगीत की परम्परा का प्रथम ग्रन्थ सामवेद को माना है। इस वेद की ऋचाओं का स्वर–युक्त गान किया जाता था तथा जिसे लयबद्ध तरीके से गाया जाता है। वैदिक संगीत में गायन–वादन और नृत्य के साथ हाथ से ताली देकर ताल दर्शाया जाता था। ताल पद्धति अति प्राचीन पद्धति है। उसका वर्णन सर्वप्रथम नाट्यशास्त्र प्राप्त होता है। नाट्यशास्त्र के इकत्तिसवें अध्याय में ताल का विवेचन किया गया है। इस अध्याय में भरत मुनि द्वारा ताल पद्धति के नियम और लक्षणों का वर्णन किया है।[(1)]भरत मुनि द्वारा ताल का वर्णन करते हुए कहा गया है, कि कला, पात और लय में परस्पर संबंध रखने वाले को ताल कहा है, जो घन वाद्य के द्वारा समय का मापन करने में सहायक होता है, वह ताल है अर्थात् घन वाद्य पर जो सशब्द क्रिया तथा निशब्द क्रिया के योग से लय का काल मान होता है, वह ताल कहलाता है। ताल के अवलोकन द्वारा घन वाद्य कला, पात, लय और मार्ग की प्रमुखता है।

(1) डॉ0 पराजपें/भारतीय संगीत की रूपरेखा/नादरूप/जनवरी–1693/पृ0–63

ताल का विशेष उपयोग समय को विभागों में विभक्त करना है। एक निश्चित किए गए काल खण्ड़ का बार–बार अनुकरण करना तथा उस काल खण्ड़ को ताल कहा जाता है। ऐसे खण्ड़ को घन वाद्य द्वारा दर्शाया जाता है। भरत मुनि के अनुसार जब कला, पात तथा लय के योग से काल का विभाजन होता है, जो घन वाद्य की श्रेणी में आता है, ताल कहा जाता है। इस असीमित काल को जान्ने व एक निर्धारित सीमा में बांधने हेतु, मनुष्य ने उसको सेकण्ड, मिनट, घण्टे आदि भागों में विभाजित किया। संगीत में भी काल के ज्ञान करने हेतु, उसको भी बांधना आवश्यक है तथा संगीत में काल का ज्ञान ताल द्वारा होता है तथा भरत मुनि ने ताल त्तव को सिद्ध करने के लिए घन वाद्य को प्रस्तुत किया। नाट्यशास्त्र में भरत मुनि ने जिन ताल त्तवों का वर्णन किया है, वह इस प्रकार है। काल प्रमाण, त्रिलय, त्रिमार्ग, त्रियति, त्रिपाणि, ताल क्रिया तथा ताल भेद। शोधार्थी द्वारा आगे इनका वर्णन किया गया है।

3:3:1) काल प्रमाण– नाट्यशास्त्र में काल की मापन क्रिया के लिए कला, निमेष आदि उल्लेखित है। लोक सम्बन्धी कार्य में विद्वान–जन जिसे कला, काष्ठ, निमेष कहते है, वह समय, संगीत में कला या ताल नहीं मान्ना चाहिए। ताल में प्रयोग होने वाली कला उससे अलग है। भरत मुनि ने पाँच निमेष को एक मात्रा या लघु माना है, तथा मात्राओं के संयोग से कला का निर्माण है। निमेष अपने आप में केवल एक काल खण्ड़ है। इस प्रकार के कई काल खण्ड़ों के योग से यह ताल के अंग बनते है, जो नाट्यशास्त्र में लघु, गुरू, प्लुत कहे गए है। यह गुरू, लघु, प्लुत भी काल खण्ड़ ही है। इनको ताल नहीं कहा जा सकता है कि जिस तरह से अकेला अक्षर शब्द नहीं बनता, दो या दो से अधिक अक्षर मिलकर शब्द की निर्मित करते है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए, भरत मुनि ने भी कला, काष्ठा, निमेष को ताल न कहते हुए, उनको सिर्फ काल खण्ड़ माना है। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र वर्णित तालों में ताल अंगों के स्वरूप में लघु, गुरू, प्लुत को प्रमुखता ही है।

3:3:2) त्रिलय– भरत मुनि लय की व्याख्या काल के सहित की है। नाट्यशास्त्र के तालाध्याय के तीसरे श्लोक में लय की लीनता को विश्रान्ति (ठहराव) कहा है। भरत मुनि ने पाँच निमेष के बराबर काल में गानकाल को एक मात्रा माना हैं तथा इन्ही मात्राओं के संयोग से काल उत्पन्न होता है। काल की अवधि के अनुरूप ही लय का उद्भभव होता है। **अर्थात्** कला और मात्राओं के काल के अनुकूल ही लय उत्पन्न होती है। नाट्यशास्त्र में लय शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है, कि छन्दों, अक्षरों तथा पदों की अनुरूपता कही है। वो कला के बीच में

होने वाला अंतराल से रचित माप लय कहा जाता है। लय शब्द की उत्पत्ति 'लीड़' धातु के जोड़ से होती है। इसलिए दो मात्रा, कला या क्रियााओं के जोड़ को लय कहा जाता है। इस बात को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि दो क्रियाओं के बीच में होने वाली विश्रान्ति का नाम लय है। भरत मुनि द्रुत, मध्य तथा विलम्बित। इस प्रकार लय के तीन भेंद कहे है। विलम्बित की दुगुनी लय मध्य, मध्य से दुगनी लय द्रतु मानी है।

इनमें प्रमाण लय, मध्य लय मानी है। नाट्यशास्त्र में भरत मुनि ने वाद्य वादन में विलम्बित, मध्य तथा द्रुत लय का निर्धारित गीत के पदानुकूल माना है। भरत मुनि द्वारा नाट्यशास्त्र में गायन में लय के अलग–अलग प्रकारों की महत्वता को बतलाते हुए कहा है कि जिस तरह से नृत्य के अर्न्तगत रंजकता उत्पन्न करने हेतु विभिन्न प्रकार की मुद्राओं तथा भाव–भंगिमाओं का प्रयोग किया जाता है। उसी तरह से गायन के अर्न्तगत भिन्न–भिन्न प्रकार लयकारियों का प्रयोग किया जाता है। नाट्यशास्त्र के अवनद्धाध्याय के अर्न्तगत भरत मुनि ने अवनद्ध वाद्य के वादन विधि को त्रिगत में व्याख्यित किया है। जिसके तीन भेंद बताए है– त्तव, अनुगत, ओघ। जिनको विलम्बित, मध्य तथा द्रुत लय के समकक्ष माना है। नाट्यशास्त्र के अनुसार त्तव को विलम्बित लय, अनुगत को मध्य लय और ओघ द्रुत में वर्णित किया है।

3:3:3) मार्ग– मार्ग को पुल्लिंग वाचक शब्द कहा है, जिसकी उत्पत्ति 'घञ्' प्रत्यय को मार्ग धातु लगाने से मानी गई है, मार्ग का शाब्दिक अर्थ है– पथ, रास्ता, शैली आदि। संगीत में मार्ग उसके चलन व शैली को दर्शाता है, जिससे गति के क्रम, लय, मात्रा, ताली, खाली का ज्ञान होता है। भरत मुनि द्वारा नाट्यशास्त्र में तीन मार्गों का वर्णन किया गया है– चित्र, वार्तिक तथा दक्षिण मार्ग। जिसमें चित्र मार्ग के अर्न्तगत दो मात्रा, वार्तिक के अर्न्तगत चार मात्रा तथा दक्षिण मार्ग के अर्न्तगत आठ मात्राओं की कलाएं बताई है।

अभिनव गुप्त द्वारा नाट्यशास्त्र की टीका के अर्न्तगत कला तथा मार्ग को बताते हुए कहा गया है कि–

निष्कामष्च प्रवेषष्च द्विकलै परिकीर्तितौ॥
एषामन्तरपातास्तु पातसंज्ञाः प्रकीर्तिताः॥(1)

---

(1)शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–33 / श्लोक–38

निशब्द क्रिया अर्थात् आवाप, निष्क्राम, विक्षेप और प्रवेशक के मध्य के विस्तार तथा सशब्द क्रिया अर्थात् शम्या, ताल, सन्निपात के अर्न्तगत पात का निर्धारण कितना होगा, वह चित्र, वार्तिक तथा दक्षिण मार्ग के अनुरूप निधारित किया जाता है। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में तीन मार्गों के अतिरिक्त चौथा मार्ग ध्रुव मार्ग बताया है। जिसके अर्न्तगत एक मात्रा की कला होती है। भरत मुनि ने ध्रुवा मार्ग को स्पष्ट नहीं किया है। अभिनव गुप्त द्वारा नाट्यशास्त्र की टीका में वर्णन किया है कि भरत मुनि ने ध्रुव मार्ग का प्रयोग किया है। उनका माना है कि अगर ऐसा न होता तो मुख्य इकाई का प्रमाण पाँच लघु अक्षर न बताकर चित्र मार्ग के अर्न्तगत लघु अक्षर को दस वार्तिक को इससें दुगने लघु अक्षर अर्थात् बीस लघु अक्षर तथा दक्षिण मार्ग में 40 लघु अक्षर होते है।

भरत मुनि ने मुख्य इकाई का मान पाँच अक्षर काल का ही माना है। जिससे चित्र मार्ग में दस लघु अर्थात् दो मात्रा, वार्तिक मार्ग में चार मात्रा तथा दक्षिण मार्ग में आठ मात्रा कहीं है, अर्थात् भरत मुनि ने मार्ग में मात्रााओं को मुख्य इकाइयों में निधारित की हुई मात्रा के माप पाँच लघु अक्षर से संबंधित माना है। चच्चत्पुट तान के स्वरूप ''ऽ ऽ। ऽ॑'' को तीन मार्गों में इस प्रकार से निश्चित किया जाएगा।

चित्र मार्ग

कला	ऽ	ऽ	।	ऽ॑
अक्षरकाल	**10**	**10**	**5**	**15**
मात्रा	**2**	**2**	**1**	**3**

वार्तिक मार्ग

कला	ऽ	ऽ	।	ऽ॑
अक्षरकाल	**20**	**20**	**10**	**30**
मात्रा	**4**	**4**	**2**	**6**

दक्षिण मार्ग

कला	ऽ	ऽ	।	ऽ॑
अक्षरकाल	**40**	**40**	**20**	**60**
मात्रा	**8**	**8**	**4**	**12**(1)

---

(1) पटेल जमुना प्रसाद / ताल वाद्य परिचय / पृ0–278

इनके अनुरूप ताल का मार्ग इस प्रकार है।

3:3:3:1) चित्र मार्ग– दो मात्रा की कला, प्रथम मात्रा पर आघात (सशब्द) तथा दूसरी मात्रा पर खाली (निशब्द)।

3:3:3:2) वार्तिक मार्ग– चार मात्रा की कला, प्रथम मात्रा पर आघात (सशब्द) तथा बाकी शेष तीन मात्रा पर खाली (निशब्द)।

3:3:3:3) दक्षिण मार्ग– आठ मात्रा की कला, प्रथम मात्रा पर आघात (सशब्द) तथा बाकी सात शेष मात्रा पर खाली (निशब्द)।

प्रत्येक मार्ग में चच्चत्पुट ताल का स्वरूप एक सा ही रहेगा, लेकिन उसकी मात्राओं की संख्या बदल जाएगी तथा उनके अक्षर काल का स्वरूप भी बदल जएगा। चित्र में लघु की संख्या पाँच अक्षर काल, गुरू की संख्या 10 अक्षर काल तथा प्लुत की संख्या 5 अक्षर काल कही है और वार्तिक मार्ग में लघु की संख्या 10 तथा प्लुत की संख्या 20 अक्षर काल बताई है। तथा दक्षिण मार्ग के अर्न्तगत गुरू की संख्या 20 अक्षर काल, लघु की संख्या 40 अक्षर काल व प्लुत की संख्या 60 अक्षर काल हो जाती है। इसी प्रकार प्रत्येक मार्ग में लघु, गुरू तथा प्लुत की मात्राएँ भी बदलती जाती है। चित्र मार्ग में लघु की एक, गुरू की दो, तथा प्लुत की 3 मात्रा। इसी प्रकार वार्तिक में लघु की दो मात्रा, गुरू की चार मात्रा तथा प्लुत की छः मात्रा होगी और दक्षिण मार्ग में लघु की चार मात्रा, गुरू की आठ मात्रा और प्लुत बारह मात्राओं का होगा।

इससे यह स्पष्ट होता है, कि मात्राओं का मान दुगना होने से ताल की लम्बाई भी दुगुनी हो जाती है। जबकि क्रियाओं का मान उतना ही रहता है, अर्थात् सभी मार्गों में क्रियाओं का मान एक जैसा होने पर भी ताल की मुख्य लम्बाई में दुगुनी वृद्धि होती है। इससे यह प्रतीत होता है कि प्रत्येक मार्ग के परिवर्तन से लय में परिवर्तन होता है। नाट्यशास्त्र में इक्तीसवें अध्याय में सप्त गीतों का वर्णन किया है। इन सप्त गीतों में भरत मुनि ने आसारित को सब गीतकों से श्रेष्ठ माना है। आसारित के विस्तार से ही वर्धमान गीत का निमार्ण होता है, जिसे ताण्डव नृत्य का आधार कहा है। अभिनव गुप्त द्वारा गीतकों में ताल की अवस्था कही है।

गीतकादौ तालभागस्यैव प्राधान्यम॥[1]

इससे स्पष्ट होता है, कि गीतकों में ताल की व्यवस्था होती है। गीतकों में चित्र मार्ग, वार्तिक मार्ग तथा इक्षिण मार्ग का प्रयोग होता है। अतः स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है, कि ताल का प्रयोग करते हुए उसका समय हर एक कला, मात्रा का निश्चित मापन समय का प्रमाण निर्धारित करते हुए चलना ही नाट्यशास्त्र में मार्ग कहा गया है।

3:3:4) यति भेंद– त्तिन प्रत्यय के साथ यम धातु को लगाने से यति शब्द की निर्मित होती है। शब्दकोश के अनुसार यति का शाब्दिक अर्थ– जितना, यत्परिमाण, नियंत्रण, रोक, पथ प्रर्दशन, संगीत में स्थाई, पाठच्छेद, संस्कृत छंद में जब जिव्हा को छन्द उच्चारण के समय विराम दिया जाता है, उसे यति कहा जाता है। लौकिक व्यवहार में जिसने अपनी इन्द्रियों को वश में किया हो तथा जो संसारिक जंजाल से परे हो उसे यति कहा है। संगीत में ताल के संदर्भ में लय के विलक्षण विधि नियम अथवा लय के पथ प्रदर्शन नियम को यति कहा है। वेद काल के प्राचीन ग्रन्थों में लय का वर्णन तो है, परन्तु ताल में यति का वर्णन नहीं है। सर्वप्रथम यति वर्णन भरत मुनि द्वारा रचित ग्रन्थ नाट्यशास्त्र ग्रन्थ में प्राप्त होता है। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में यति का वर्णन करते हुए कहा है। जो गीत तथा वाद्य पर अश्रित होकर पद, वर्ण एवं अक्षरों का प्रस्तार करे तथा उनको नियम में बांधनें का कार्य करे वह यति कहलाती है। नाट्यशास्त्र में यति के तीन भेंद बताएं है–1) समायति 2) स्त्रोतागता यति 3) गोपुच्छा यति। नाट्यशास्त्र का अभिनव गुप्त द्वारा प्रस्तुत टीका जो बड़ौदा ओरियन्टल इन्स्ट्रियुट से प्रकाशित की गई है। इसमें यति के नाम बताए गए है किन्तु उनके लक्षण नहीं बताए है, परन्तु चौखम्बा द्वारा प्रकाशित बाबूलाल शुक्ल शास्त्री का नाट्यशास्त्र की टीका में अध्याय इक्तीस के श्लोक 489–492 तक यति के तीन प्रकारों का वर्णन किया है।[2]

यतियों के लक्षण

3:3:4:1) समा यति– जिस यति के आरम्भ, मध्य तथा अन्त में लय, वर्ण तथा पद एक ही समान रहते हो, वह समायति कही जाती है। इसका प्रयोग चित्र मार्ग में होता है तथा वाद्य के वादन विधि में इसकी प्रधानता रहती है।

---

(1) अभिनव गुप्त / अभिनव भारती टीका भरत–नाट्यशास्त्र / तालाध्याय / श्लोक–28 / पृष्ठ–54
(2) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल (अनुवाद) / अध्याय–31 / श्लोक–489–492

3:3:4:2) स्त्रोतोगता यति– इस यति का प्रयोग वार्तिक मार्ग में होता है, जिस समय वाद्यों से उत्पन्न हुए, स्वरों की गति (लय) आगे की तरफ बढ़ती हुई, कभी रूकते हुए तथा कभी द्रुत गति हो जाती हो, उसे स्त्रोतागता यति कहा जाता है।

3:3:4:3) गोपुच्छा यति– लघु, गुरू तथा वर्णों से सम्बन्धित जिसके कारण अक्षरों का खण्ड ठीक तरह से नहींहो सकता हो एवं पहचाने न जा सकते हों तथा एंसी विलम्बित गीत की प्रमुखता न रखने वाली यति गोपुच्छा यति कही जाती है। यह यति दक्षिण मार्ग में प्रस्तुत होती है।

3:3:5) त्रिपाणि– पाणि का संस्कृत शब्दकोश में अर्थ प्राप्त होता है – ग्रहण करना। संगीत में गीत, वाद्य तथा नृत्य में जिस स्थान से ताल का आरम्भ होता है, उसे पाणि कहते है। भरत मुनि के अनुसार जो गीत और वाद्य का समाक्षित होता है, वह पाणि है। नाट्यशास्त्र में पाणि के तीन प्रकार बताए है– समपाणि, अवपाणि और उपरिपाणि। नाट्यशास्त्र में इन तीनों पाणियों के लक्षण बताते हुए कहा है कि जब गीत के साथ ही वाद्य वादन हो अर्थात् गीत, वाद्य एक ही साथ उठे, तो समपाणि कहा जाता है और जब गीत का आरम्भ होने के पश्चात् वाद्य–वादन का उठान हो, तो वह अवपाणि कहलायेगा तथा ताल आरम्भ होने के बाद जब गीत का आरम्भ हो तो वह उपरिपाणि कहा जाता है। नाट्यशास्त्र में भरत मुनि ने इन तीनों पाणियों का संबंध लय से भी माना है।

अवपाणि का वर्णन करते हुए कहा है, कि जो पाणि द्रुत या मध्य लय के अधिन होती हो, वह अवपाणि होता है। द्रुत लय में एक कला के अर्न्तगत अपने तालों का अन्तर अधिक या जिसमें दो कलाओं के मध्य का ठहराव ज्यादा हो उसे उपरिपाणि कहते है। अभिनव गुप्त ने नाट्यशास्त्र की टीका में उदाहरण सहित इसको स्पष्ट किया है कि जब मुख्य त्तव साथ चलने के बिना आगे बढ़ाए जाये तो साथ चलने वाले की प्रतीक्षा न करने के कारण उसकी गति द्रुत हो जाती है। इसलिए उसे उपरिपाणि कहा है। इसके सन्मुख जब साथ चलने वाला (ताल) मुख्य त्तव (गीत) से पहले आरम्भ हो जाए, उस समय मुख्य त्तव (गीत) से मिलने के लिए प्रतीक्षा करने के लिए एसकी लय विलम्बित हो जाती है, इसलिए वह अवपाणि हो जाता है।[(1)]

---

(1) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–31 / श्लोक–493–500

3:3:6) ताल क्रिया– लौकिक व्यवहार के अनुसार क्रिया शब्द का अर्थ होता है, किसी कार्य को करना या किसी कार्य का होना, जो क्रम, प्रयत्न, अनुष्ठान आदि द्वारा दर्शाया जामा है। संगीत में काल को गिन्ने के कार्य को क्रिया कहा जाता है। संगीत में जो काल के खण्ड़ होते है, वह क्रिया द्वारा ही किए जाते है। नाट्यशास्त्र में भरत मुनि ने ताल का स्वरूप इस प्रकार कहा है–

तालो घन इति प्रोक्ताः कला–पात–लयान्वितः॥
कलास्तस्य प्रमाणं वै विज्ञेयं ताल्योक्तृभिः॥(1)

जो कला, पात तथा लय से संबंधित तथा काल द्वारा जिसका मापन किया जाता है, वह ताल कहलाता है। संगीत के प्रयोग में जिस समय ताल का अवरोध होता है, उस समय के मापन को कला कहते है। कला शब्द मुख्यता क्रिया के अर्थ में प्रयोग किया जाता है। काल का खण्ड़ क्रिया के द्वारा होता है। काल का विभाजन करने से कला का ज्ञान होते है। यहाँ कला शब्द का अर्थ निशब्द क्रिया से है। और कला, पात का तात्पर्य निशब्द तथा सशब्द क्रिया से है। जिस समय कला और पात का एक साथ प्रयोग होता है, तो कला का अर्थ निशब्द क्रिया और पात का अर्थ सशब्द क्रिया होता है, परन्तु यहाँ अकेले कला शब्द का प्रयोग होता है। वहाँ उसके कई अर्थ होते है। ताल में कला का अर्थ ताल में निशब्द क्रिया के लिए भी किया जाता है, लेकिन कहीं–कहीं मात्र क्रिया में दोनों प्रकार की क्रियाओं निशब्द तथा सशब्द क्रिया के लिए भी कला शब्द का वर्णन किया है। भरत मुनि द्वारा गुरू इकाई के लिए भी कला शब्द का प्रयोग किया गया है तथा कला का उपयोग पादभाग के लिए भी हुआ है। इस प्रकार देखा जाता है कि कला शब्द का अर्थ अत्याधिक विस्तृत शब्दों में है।

3:3:7) पात– पात शब्द का अर्थ भरत मुनि ने सशब्द क्रिया कहा है। पात का अर्थ होता है– आघात, गिरना या पतन। पात क्रिया होने से ध्वनि उत्पन्न होना स्वाभिक है, क्योंकि असधार कोई चीज़ किसी वस्तु पर गिरेगी या किसी वस्तु से टकरायेगी तो ध्वनि उत्पन्न होगी ही और सशब्द क्रिया में ध्वनि होना जरूरी है तथा पात शब्द, सशब्द क्रिया के लिए उचित है। ताल के अर्न्तगत सशब्द क्रिया नितान्त अवश्यक है क्योंकि ताल में काल का खण्ड़ किसी क्रिया के द्वारा होना आवश्यक है तथा वह क्रिया सशब्द क्रिया होती है। जिससे निश्चित किया जाए कि इस स्थान से काल का विभाजन होना है। कला, पात दोनों ही क्रियाएँ ताल

---

(1) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–31श्लोक–1

में अत्याधिक आवश्यक है। कला–पात ताल के अंश व शक्ति है। इन दोनों के माध्यम से ही ताल में लय निश्चित होती है। इस प्रकार कला और पात दोनों काल का परिच्छेद करने वाले सशब्द तथा निशब्द क्रिया को दर्शाता है। कला को मापने के क्रम को क्रिया कहते है। ताल में अन्नद पैदा करने वाली शक्ति क्रिया ही है। क्रिया के नाट्यशास्त्र में मुख्य दो भेंद बताए है। निशब्द क्रिया तथा सशब्द क्रिया।

3:3:7:1) निशब्द क्रिया– जिसमें की गयी क्रिया की ध्वनि सुनायी न दे तथा ऐसी ध्वनि जो कानों के सुन्ने की शक्ति से बाहर हो, निशब्द क्रिया कही जाती है। भरत मुनि निशब्द क्रिया के चार भेद बताए है, जो क्रमानुसार इस प्रकार है– आवाप, निष्क्राम, विक्षेप तथा प्रवेश।

3:3:7:1:1) आवाप– इन निशब्द क्रियाओं के लक्षण बताते हुए, भरत मुनि ने वर्णन किया है कि हथेली को ऊपर की ओर उठाकर हाथ की अंगुलियों को सिकोड़ना आवाप क्रिया कही जाती है।

आवाप

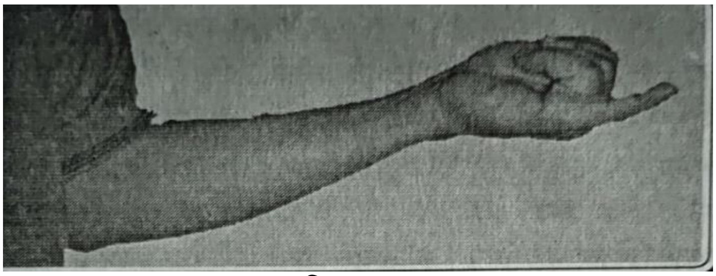

चित्र– 1

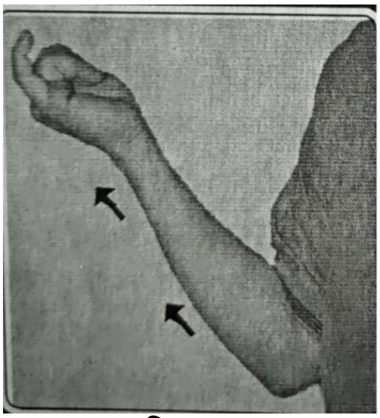

चित्र–2

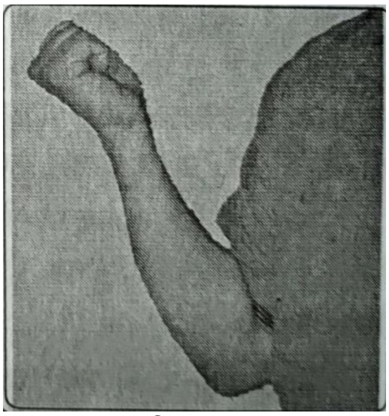

चित्र–3

3:3:7:1:2) निष्क्राम– हाथ को उल्टा कर अर्थात् हथेली को नीचे की तरफ करके हाथ की अंगुलियों को फैलाना चाहिए।

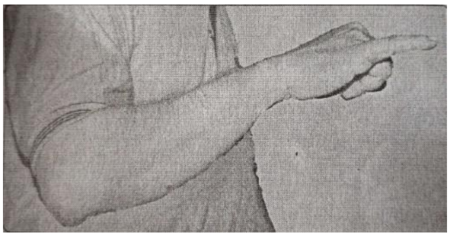

निष्क्राम

3:3:7:1:3) विक्षेप– हथेली को दाहिने ओर फेंकना अर्थात् (प्रक्षेपण) झटका देते हुए तेज गति द्वारा लेजाना विक्षेप क्रिया कहा जाता है।

विक्षेप

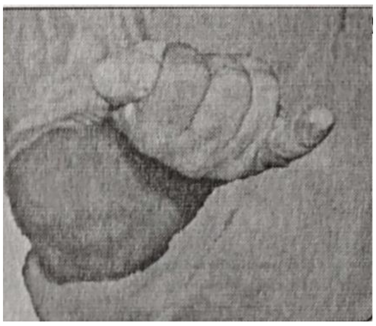

चित्र–1

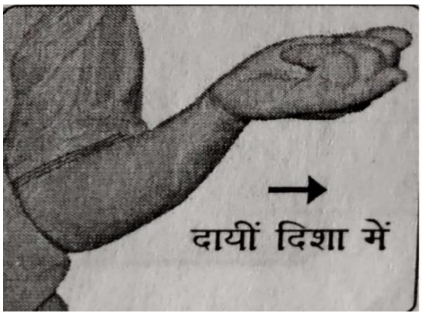

चित्र–2

3:3:7:1:4) प्रवेशक– इस क्रिया के अर्न्तगत हथेली को उल्टा करके हाथ की अंगुलियों को बन्द करना प्रवेशक कहलाता है।

प्रवेशक

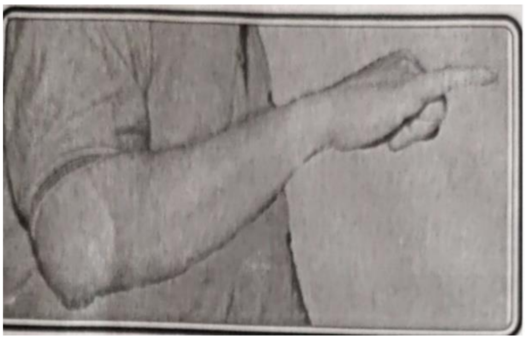

चित्र–1

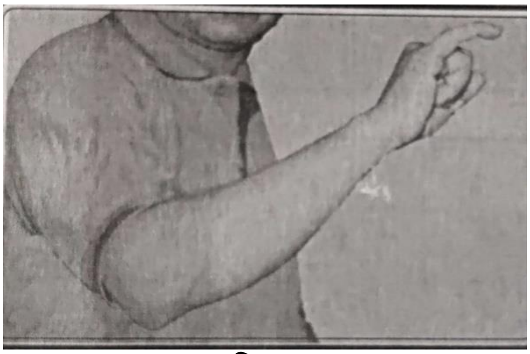

चित्र–2

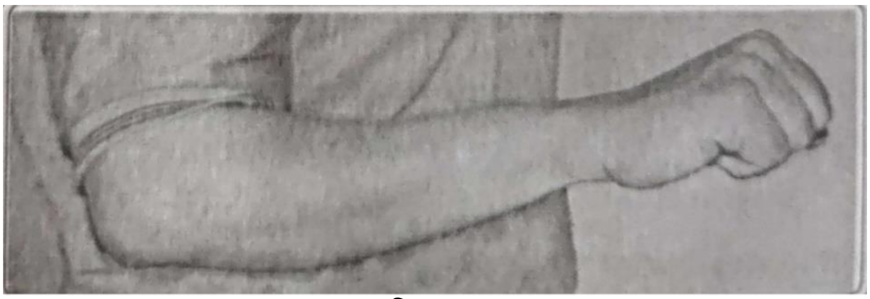

चित्र–3

3:3:7:2) सशब्द क्रिया– वह क्रिया जिसकी ध्वनि स्पष्ट रूप से सुनायी दे, वह सशब्द क्रिया होती है। दोनों हाथों को आपस में आघात करके या चुटकी बजाकर सशब्द क्रिया को दर्शाया जाता है। सशब्द क्रिया के नाट्यशास्त्र में चार प्रकार बताए गए है– ध्रुवा, शम्या, ताल तथा सन्निपात। इन सभी के लक्षण इस प्रकार है।

3:3:7:2:1) ध्रुवा– किसी एक मात्रा पर विश्राम के लिए किया गया आघात या पात ध्रुवा कहा जाता है। भरत मुनि ने ध्रुवा का वर्णन ताल के क्रियाओं में नहीं किया है। उनका माना है कि आगे के तीन प्रकार सशब्द क्रिया में बताए है। उनके आघात क्रम को भी ध्रुवा कह सकते है।

3:3:7:2:2) शम्या– दाहिने हाथ से बाएं हाथ पर आघात करके ताल क्रिया करना शम्या कहा जाता है।

शम्या

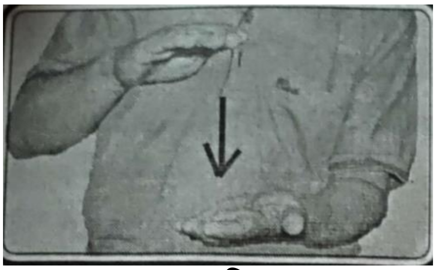

चित्र–1

चित्र–2

3:3:7:2:3) ताल– बाएं हाथ से दाहिने हाथ पर आघात कर आवाज़ उत्पन्न करना ताल क्रिया कही जाती है।

ताल

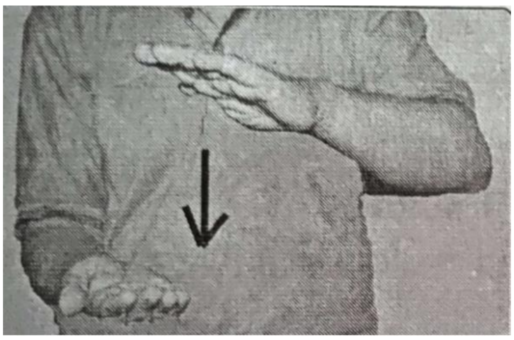

चित्र–1

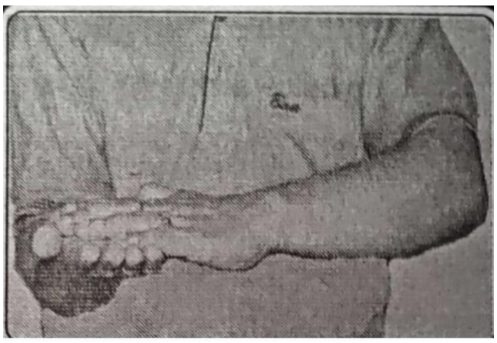

चित्र–2

3:3:7:2:4) सन्निपात– दोनों हाथों से परस्पर आघात देकर ध्वनि उत्पन्न करना सन्निपात कहलाता है।

सन्निपात

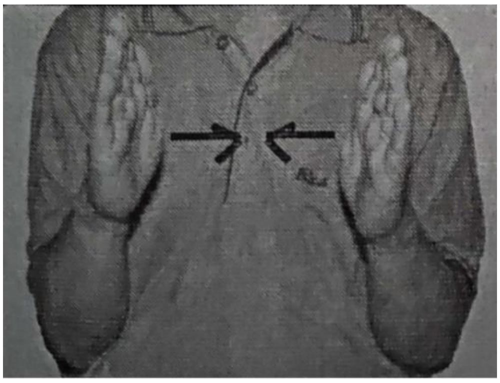

चित्र–1

चित्र–2

3:3:8) ताल के भेंद– ताल संगीत का आधार स्तम्भ है। संगीत का ताल पर ही निर्भर होता है। विद्वानों द्वारा कहा गया है, कि वह संगीत जो ताल बद्ध नहीं होता अथवा अनिबद्ध होता है, वह अशक्य(आरण्यक) संगीत के समान है तथा वह संगीत, जो ताल में निबद्ध हो उसे सभ्य, सामाजिक संगीत कहा गया है। मात्र स्वर आश्ररित संगीत रंजकता उत्पन्न नहीं कर सकता। इसको लगातार सुन्ने पर ह्रदय व चित्त प्रसन्नता के स्थान पर करूण भाव व उदासी के भाव उत्पन्न होने है। जैसे ही स्वर, साहित्य तथा ताल के संयोग से संगीत रस, भाव तथा रंजकता उत्पन्न हो जाती है। जो चित्त में प्रसन्नता व उत्तेजना का सृजन करती है। ताल तथा छंद के आधार पर संगीत के स्वरों में लय या गति का उद्भव होता है। ताल द्वारा ही संगीत निर्धारित क्रम काल तथा नियम में बांधा जाता है।

ताल से संगीत में सौन्दर्य भाव विकसित होते है, जिसके द्वारा संगीत में संतुलन स्थापित होता है। ताल के साथ ही संगीत में अनुशासन आता है। ताल का प्राथमिक वर्णन वैदिक काल से प्राप्त होता है। वैदिक संगीत में गायन, वादन तथा नृत्य के साथ हाथ से ताल देकर मात्रा गिन्ने की प्रथा थी, जिसका वर्णन भरत मुनि द्वारा रचित ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में प्राप्त होता है। ताल के नियमों का निर्धारण करने वाला सर्वप्रथम ग्रन्थ भी नाट्यशास्त्र है तथा इसको ताल का आधार ग्रन्थ भी कहा जाता है। भरत मुनि द्वारा नाट्यशास्त्र में ताल का वर्णन करते हुए कहा है कि कला, पात तथा लय से सम्बन्धित ताल, जो घन वाद्य की श्रेणी में आता है, उसे ताल कहते है। अभिनव गुप्त ने नाट्यशास्त्र की टीका में 'तल' में स्थापित होने वाले को ''ताल'' कहा है। **तले भवस्तालः ॥** [(1)]

(1) अभिनव गुप्त / अभिनव भारती टीका भरत–नाट्यशास्त्र / तालाध्याय / पृष्ठ–152

''यद् घनं नाम वाद्यमातोद्यं प्रोक्तमुदिष्टं तस्य तालेन भाविना शम्यादिसशब्दावापनिः शब्दक्रियाविशेषणयोगे न सति यस्तालः परिच्छित्यात्मककालखण्ड़ेः क्रियारूपो द्रव्यात्मा स एव गीतक्रियाप्रमाणपरिच्छेदोपायः ॥''(1)

ताल का अर्थ है– आधार, नींव या बुनियाद तथा जो किसी वस्तु को अपने ऊपर धारण करता हो। हाथ का वह भाग जो किसी वस्तु को धारण करता है या किसी वस्तु को हाथ के जिस भाग पर रखते हैं, उसे हस्त्तल (हथेली) कहते है। शरीर में पैर का वह हिस्सा जो शरीर को अपने ऊपर धारण किए हुए होता है, वह पदतल कहा जाता है। ठीक उसी प्रकार जैसे पृथ्वी ने अपने ऊपर धारण किया हुआ है। उसे भूतल कहा जाता है। उसी तरह संगीत में गायन, वादन तथा नृत्य को जो अपने ऊपर धारण करता है, वह ताल कहलाता है। निशब्द तथा सशब्द क्रिया के संयोग से संगीत में समय के खण्ड़, जो द्रव्यमान और क्रियारूप है तथा गीत में क्रिया द्वारा समय मापने के साधन को ताल कहते है।

नाट्यशास्त्र में भरत मुनि ने तालों के दों भेदों का वर्णन किया है, चच्चपुट तथा चापपुट। इन दोनों की निर्मिति या व्यवहार समान माना है। भरत मुनि ने चच्चत्पुट को चतुरस्त्र और चापपुट को त्र्यस्त्र ताल भी कहा है। दो लघु अक्षरों से संयुक्त होते है। चच्चपुट ताल में प्रारम्भ के दो वर्ण गुरू फिर एक लघु और अन्त में प्लुत वर्ण हो और यदि आरम्भ में एक गुरू फिर दो लघु और अन्त में गुरू अक्षर हो तो चापपुट (त्र्यत्र) ताल समझना चाहिए। नाट्यशास्त्र में इन दोनों के मिश्रण रूप को भी बतलाया है, जो मिश्रताल कहा जाता है। इनमें षटपितापुत्रक या पंचपाणि भी है। जो लघु गुरू अक्षरोंके द्वारा अपना स्वरू‍प प्रकट करते है।

जब प्रथम में प्लुत वर्ण, दुसरा वर्ण लघु, तीसरा तथा चौथा वर्ण गुरू हो, पांचवा वर्ण लघु तथा अन्त में प्लुत वर्ण हो तो, वह षटपितापुत्रक या पंचपाणि कहलाता है। इन तालादि के त्र्यस्त्र भेदों में दो अन्य प्रकार भरत मुनि द्वारा बताए गए है। जिसको सम्पेकष्टाक कहा है। इसके गुरू, लघु अक्षरों में प्रथम वर्ण प्लुत, बीच के तीन वर्ण गुरू तथा अन्त में प्लुत वर्ण होता है। जब इन त्र्यस्त्र भेंदों में सभी वर्ण गुरू हो, तो उसे उद्घट्ट कहा जाता है, तथा इनकी पात कला सन्निपात, शम्य, ताल, निष्क्राम आदि से बताई है, जो इस प्रकार है।

---

(1) अभिनव गुप्त / अभिनव भारती टीका भरत–नाट्यशास्त्र / तालाध्याय / पृष्ठ–151

3:3:9: नाट्यशास्त्र में वर्णित तालों का स्वरूप :–

3:3:9:1 ताल चच्चत्पुट

ताल	चच	च्त	पु	ट
मात्रा	2	2	1	3
वर्ण	ऽ	ऽ	।	ऽ
पात कला	सं	श	त	श

3:3:9:2 ताल चाचपुट

ताल	चा	च	पु	ट
मात्रा	2	1	1	2
वर्ण	ऽ	।	।	ऽ
पात कला	सं	श	त	श

3:3:9:3 ताल षट्पितापुत्रक

ताल	षट्	पि	त	पुत	श्र	क
मात्रा	3	1	2	2	1	3
वर्ण	ऽ।	।	ऽ	ऽ	।	ऽ।
पात कला	सं	ता	श	ता	श	ता

3:3:9:4 ताल सम्पक्वेष्टाक

ताल	सम	पक	वेष	टा	कः
मात्रा	3	2	2	2	3
वर्ण	ऽ।	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ।
पात कला	त	श	त	श	ता

3:3:9:5 ताल उद्घट

ताल	उद्	घट्	टः
मात्रा	2	2	2
वर्ण	ऽ	ऽ	ऽ
पात कला	नि	श	श [1]

यहाँ पातकला में सन्निपात को (सं), शम्या को (श), ताल को (ता) तथा निष्क्राम को (नि) द्वारा प्रदर्शित किया है तथा इन तालों के तीन–तीन भेद होते है। एकल, द्विकल तथा

(1) पटेल जमुना प्रसाद / ताल वाद्य परिचय / पृ0–262–266

चतुष्कल। एककल को यभाक्षर को यथाक्षर संज्ञा भी दी गयी है। भरत मुनि ने उनके लक्षणों का इस प्रकार वर्णन किया है।

यथाक्षरस्य तालस्य स तु गुर्वक्षरो भवेत्॥
यथाक्षरकृतैः पातैस्तालो ज्ञेयो यथास्थितः॥41॥

गुर्वक्षरैष्च विष्लिष्टैः स एव द्विकलो भवेत्॥
द्विर्भावो द्विकलस्यैव विज्ञेयस्तु चतुष्कलः॥42॥

अर्थात्– यथाक्षर ताल गुरू अक्षरों वाला होता है। (यथाक्षर का अर्थ होता है– अक्षर के जैसा) अर्थात् जब ताल में प्रयोग होने वाले अक्षरों को साधारण अवस्था के अनुकूल ही 'पात' होता हो तो उसे यथाक्षर समझना चाहिए, तथा जब पात दो गुरू अक्षरों से सम्मिलित हो ता द्विकल कहा जाता है। और द्विकल से दुगुना हो जाने पर चतुष्कल कहा जाता है। जो इस प्रकार है।

एककल (यथाक्षर)			
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
1	2	3	4

इसमें एक विभाग में एक ही क्रिया होती है।

द्विकल			
ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ
1 2	3 4	5 6	7 8

इसमें एककल का दुगुना कर दिया जाता है। अर्थात् इसके हर एक विभाग में दो–दो क्रियाऐं होती है।

चतुष्कल– इामें द्विकल का दो गुना कर दिया जाता है। इसमें हर क्रिया में चार–चार क्रियाऐं की जाती है। जो इस प्रकार है–

चतुष्कल			
ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ
1 2 3 4	5 6 7 8	9 10 11 12	13 14 15 16[1]

भरत मुनि ने यथाक्षर ताल को शुद्ध कहा है।

एवमेककलो ज्ञेयः शुद्धष्चच्चत्पुटादिकः॥[2]

---

(1) पाण्डे सुधाँशु / ताल प्राण / पृ0–77
(2) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–31 / श्लोक–26

यथाक्षर ताल के स्वरूप में जितनें गुरू होते है। उससे दुगने द्विकल तथा यथाक्षर से चौगुने चतुष्कल ताल में होते है। यहाँ पर एक बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि यथाक्षर की इकाइयों का स्वरूप लघु तथा प्लुत है। उनका स्वरू‍प बदल कर द्विकल और चतुष्कल में गुरू कर दिया जाता है। दत्तिल द्वारा रचित ग्रन्थ ''दत्तिलम्'' में वर्णन किया कि त्रिमात्रिक (प्लुत) को छोड़कर केवल द्विमात्रिक **अर्थात्** गुरू को ही लेना चाहिए–

गुरूप्लुतानिहित्वाथ द्विमात्रान् परिकल्पयेत॥ (1)

जिस प्रकार चच्चतपुट ताल का मूल रूप ऽ ऽ । ऽ। है तथा उसकी मात्रायें **2 2 1 3** इस प्रकार आठ मात्राएँ है। इनमें से अन्तिम की दो मात्राओं को (लघु और प्लुत मिलाकार **(1+3=4)** किया जाता है। इस प्रकार दो गुरू हो जाएगें तथा इसका दोगुना द्विकल रूप निर्मित होता है, जैसे इसका यथाक्षर रूप अन्त की दो कलाओं को मिलाकर दो गुरू किए जाए, तो उसका यथाक्षर रूप ऽ ऽ ऽ ऽ इस प्रकार का होगा तथा इसका दोगुना ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ इस प्रकार हो जाता है। इसी तरह से चाचपुट ताल के मध्य में दो लघु **(ऽ।। ऽ)** मात्राओं को मिलाकर एक गुरू बनाकर चाचपुट का द्विकल रूप होता है। इसी तरह से चतुष्कल में द्विकल का दोगुना हो जायेगा, जैसे– **ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ** यह चच्चपुट ताल का चतुष्कल रूप है। इसी प्रकार चाचपुट का चतुष्कल रूप होगा– **ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ**। द्विकल के हर एक चरण (पादभाग) दो–दो कलाओं का होगा **अर्थात्** उसके हर पाद भाग में दो–दो कलाऐं होगी तथा चतुष्कल के प्रत्येक पादभाग में चार–चार कलाऐं होगी। नाट्यशास्त्र में भरत मुनि द्वारा पाँच तालों का वर्णन किया है– (1)चच्चतपुट (2)चाचपुट (3)षटपितापुत्रक (4)सम्पक्वेष्टक (5)उद्‌घट।(2) इन पाँच तालों की कला विधि तथा यथाक्षर ताल के अर्न्तगत उनकी पात कला उदाहरण सहित वर्णन करने की चेष्टा शोधार्थी द्वारा की गयी है।

3:3:10) चच्चपुट

इस ताल को चतुष्कल ताल भी कहा गया है। इस ताल के लक्षण इसके नाम द्वारा ही ज्ञात हो जाते है क्योंकि ताल का स्वरूप ही नाम में प्रयोग होने वाले अक्षरों की परिस्थिति के अनुकूल हो वह यथाक्षर कहा जाता है। यथाक्षर की मात्राओं को दोगुना करने पर वह द्विकल

---

(1) पं0 दत्तिल / दत्तिलम् / श्लोक–130 / पृष्ठ–13
(2) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–31 / पृ0–10–13

और मात्राओं को चौगुना करने पर वह चतुष्कल ताल कहलाता है। नाट्यशास्त्र के अनुसार चच्चतपुट ताल का स्वरूप इस प्रकार व्याख्यित किया है।

प्रथमं गुरुणी कृत्वा लघु चान्त्यं प्लुतन्तथा॥[1]
अक्षराणां निवेषेन स तु चच्चत्पुटस्तदा॥

अर्थात्– जब प्रथम के दो अक्षर गुरू होते है। उसके पश्चात् एक लघु फिर अन्त प्लुत होने पर वह चच्चतपुट ताल कहा जाता है। नाट्यशास्त्र में भरत मुनि ने चच्चतपुट ताल के यथाक्षर, द्विकल, चतुष्कल। यथाक्षर चच्चत्पुट के तीन भेदों का वर्णन किया है, जो क्रम अनुसार चार, आठ तथा सोलह कला के रूप में जाने जाते है। इन तीनों प्रकारों की कला–पात भिन्न–भिन्न है।

3:3:10:1) चच्चतपुट का यथाक्षर स्वरूप

ताल रूप	ऽ	ऽ	।	ऽ।
तालाक्षर	चच्	च्त	पु	टः
मात्राएं	1 2	3 4	5 6	7 8
पात–कला	सं	श	ता	श

3:3:10:2) चच्चत्पुट का द्विकल स्वरूप

चच्चत्पुट के द्विकल प्रकार में आठ गुरू अर्थात् सोलह लघु रखे जाते है। इसके प्रत्येक कला भेद (खण्ड) दो गुरू अर्थात् चार लघु होते है।

3:3:10:3) चच्चत्पुट का चतुष्कल स्वरूप

ताल रूप	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
मात्राएं	1,2	3,4	5,6	7,8	9,10	11,12	13,14	15,16
पात–कला	निष्क्रम	शम्या	विक्षेप	ताल	शम्या	प्रवेश	विक्षेप	शम्या

इसके प्रत्येक भाग में चार गुरू होते है, अर्थात् इसके हर भाग में आठ लघु होगें। इस प्रकार इसमें सोलह गुरू अर्थात् बत्तीस लघु होते है।

---

(1) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद)/भरत–नाट्यशास्त्र/अध्याय– 31/श्लोक–10–11

ताल रूप	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ
मात्राएं	1 2 3 4	5 6 7 8	9 10 11 12	13 14 15 16
पात–कला	आवाप निष्क्रम	विक्षेप शम्या	आवाप निष्क्रम	विक्षेप ताल
ताल रूप	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ
मात्राएं	17 18 19 20	21 22 23 24	25 26 27 28	29 30 31 32
पात–कला	आवाप शम्या	विक्षेप प्रवेश	आवाप निष्क्रम	विक्षेप सन्निपात

यहाँ इस बाज का ध्यान होना चाहिए कि चच्चत्पुट के चतुष्कल रूप की कला विधि के प्रत्येक पाद भाग (खण्ड़) का आरम्भ में आवाप और उसके मध्य में विक्षेप क्रियाओं के योग से ही वह चच्चत्पुट का चतुष्कल रूप कहलाएगा।

3:3:11) चाचपुटम– नाट्यशास्त्र में इसे त्रयस्त्र ताल भी कहा गया है। चाचपुट के यथाक्षर रूप में प्रथम वर्ण गुरू मध्य में दो लघु तथा अन्त में एक गुरू होता है।

आदौ गुर्वक्षरं यत्र लघुनी गुरु एव च॥
त्र्यस्त्रः स खलु विज्ञेयस्तालष्चापपुटो भवेत्॥॥[1]

चाचपुट ताल के सामान्य रूप से तीन भेद है– यथाक्षर, द्विकल और चतुष्कल। इसके अतिरिक्त छः भेद भी होते है। जो क्रमशः त्रिकल(तीन कला वाला), षष्टकल (छः कला वाला), द्वादशकल (बारह कला) चतुर्विंशतिकल (चौबीस कला), अष्टचत्वारिशतकल अर्थात् अड़तालीस कला वाला तथा षणवतिकल अर्थात् छियानबे कला वाला। इस प्रकार त्रिस्त्र ताल के तीन सामान्य तथा छः विशिष्ट प्रकार होने से त्रयस्त्र ताल के कुल नौ भेद होते है।

3:3:11:1) चाचपुटम का यथाक्षर स्वरूप–

ताल रूप	ऽ	ऽ	।	ऽ
तालाक्षर	चा	च	पु	टम
मात्राएं	1 2	3	4	5 6
पात–कला	शम्या	ताल	शम्या	ताल

(1) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय–11 / श्लोक–31

चाचपुटम ताल के द्विकल रूप में छः गुरू होते है **अर्थात्** बारह लघु होते है। द्विकल चाचपुटम में तीन पादभाग होते है और प्रत्येक पादभाग में दो–दो गुरू होते है।

3:3:11:2) चाचपुटम का द्विकल स्वरूप–

ताल रूप	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
मात्राएं	1,2	3,4	5,6	7,8	9,10	11,12
पात–कला	निष्क्रम	शम्या	ताल	शम्या	निष्क्रम	सन्निपात

3:3:11:3)चाचपुटम का चतुष्कल रूप–

इस भेद में द्विकल से दुगुना अर्थात् बारह गुरू होते है अर्थात् 24 लघु या मात्राएँ होती है। इसके हर एक पादभाग में चार गुरू होते है।

ताल रूप	ऽ		ऽ		ऽ		ऽ	
मात्राएं	1	2	3	4	5	6	7	8
पात–कला	आवाप		निष्क्राम		विक्षेप		शम्या	
ताल रूप	ऽ		ऽ		ऽ		ऽ	
मात्राएं	9	10	11	12	13	14	15	16
पात–कला	आवाप		तल		विक्षेप		शम्या	
ताल रूप	ऽ		ऽ		ऽ		ऽ	
मात्राएं	17	18	19	20	21	22	23	24
पात–कला	आवाप		निष्क्राम		विक्षेप		सन्निपात	

चाचपुटम ताल के यथाक्षर रूप की ताल क्रिया चच्चत्पुट ताल के समान ही होती है।

3:3:12) षट्पितापुत्रक

नाट्यशास्त्र में भरत मुनि ने तीसरी ताल के रूप में षटपितापुत्रक का वर्णन किया है। इसको पचंपाणि भी कहा है। यह भी त्रिस्त्र ताल का भेद माना है। षट्पितापुत्रक में प्रथम वर्ण प्लुत, द्वितीय लघु फिर तीसरा और चौथा वर्ण गुरू, पांचवा अक्षर गुरू और अन्त में छठा वर्ण प्लुत है। साधारण व्यवहार में इसका रूप ऽ। ऽ ऽ। ऽ होना चाहिए, परन्तु इसमें प्रथम वर्ण प्लुत

और अन्तिम वर्ण प्लुत होना विशिष्टता मानी गयी है, क्योकि भरत मुनि द्वारा वर्णन किया गया है कि इसके चतुष्कल रूप में निष्क्राम से पहले आवाप तथा प्रवेश्क से पहले विक्षेप होने से उसका चतुष्कल रूप माना जाता है। भरत मुनि ने षटपितापुत्रक का यथाक्षर रूप Sꜝ। S S। Sꜝ इस प्रकार कहा है।

आद्यं प्लुतं द्वितीयन्तु लघु यथाक्षरं भवेत्॥
तृतीयञ्च चतुर्थच्च गुरुणी पञ्चमं लघु॥21॥

प्लुतान्तः षट्पितापुत्रो गुरुलाघवसंयुतः॥
पञ्चपाणिः स विज्ञेयः षट्पातस्तु षडक्षरः॥22॥[(1)]

षट्पितापुत्रक ताल के भी यथाक्षर, द्विकल और चतुष्कल यह तीन भेद होते है।

3:3:12:1) षट्पितापुत्रक ताल का यथाक्षर स्वरूप–

ताल रूप	Sꜝ	।	S	S	।	Sꜝ
तालाक्षर	षट्	पि	ता	पु	त्र	कम्
मात्राएं	1 2 3	4	5 6	7 8	9	10 11 12
पात–कला	सन्निपात	ताल	शम्या	ताल	शम्या	ताल

3:3:12:2) षट्पितापुत्रक ताल का द्विकल स्वरूप–

षट्पितापुत्रक ताल के द्विकल स्वरूप में बारह गुरू होते है अर्थात् चौबीस लघु होते है। इसके प्रत्येक पादभाग में दो–दो गुरू होते है।

ताल रूप	S	S	S	S	S	S
मात्राएं	1 2	3 4	5 6	7 8	9 10	11 12
पात–कला	निष्क्राम	प्रवेशक	ताल	शम्या	निष्क्राम	ताल
ताल रूप	S	S	S	S	S	S
मात्राएं	13 14	15 16	17 18	19 20	21 22	23 24
पात–कला	निष्क्राम	शम्या	ताल	प्रवेशक	निष्क्राम	सन्निपात

(1) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद)/भरत–नाट्यशास्त्र/अध्याय–21–22/श्लोक–31

3:3:12:3) षट्पितापुत्रक ताल का चतुष्कल स्वरूप–

षट्पितापुत्रक ताल का चतुष्कल स्वरूप द्विकल का दोगुना होता है। इसमें 24 गुरू होते है। इस प्रकार इसकी 48 मात्राएँ होती है। यह त्रियस्त्र ताल का भेद भी है। इसके हर एक भाग में चार–चार गुरू होते है।

3:3:13) सम्पक्वेष्टक–

ताल रूप	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
मात्राएं	1 2	3 4	5 6	7 8	9 10	11 12	13 14	15 16
पात–कला	आ	नि	वि	प्रा	आ	वि	ता	शा
ताल रूप	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
मात्राएं	17 18	19 20	21 22	23 24	25 26	27 28	29 30	31 32
पात–कला	आ	नि	वि	ता	आ	नि	वि	शा
ताल रूप	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
मात्राएं	33 34	35 36	37 38	39 40	44 42	43 44	45 46	47 48
पात–कला	आ	ता	वि	प्रा	आ	नि	वि	सं

यह ताल भी त्रयस्त्र ताल का भेद है। यह नाट्यशास्त्र में वर्णित चौथी ताल है। इसमें भी षटपितापुत्रक ताल की ही तरह प्रथम तथा अन्तिम वर्ण प्लुत है तथा इसके मध्य में तीन गुरू होते है। ऽ। ऽ ऽ ऽ ऽ। इसका यथाक्षर रूप है।

3:3:13:1) सम्पक्वेष्टक ताल का यथाक्षर स्वरूप–

ताल रूप	ऽ।	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ।
तालाक्षर	सम्	प्क	वेष	टा	कम्
मात्राएं	1 2 3	4 5	6 7	8 9	10 11 12
पात–कला	ताल	शम्या	ताल	शम्या	ताल

3:3:13:2) सम्पक्वेष्टक ताल का द्विकल स्वरूप–

ताल रूप	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
मात्राएं	1 2	3 4	5 6	7 8	9 10	11 12
पात–कला	निष्क्राम	प्रवेशक	ताल	शम्या	निष्क्राम	ताल

ताल रूप	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
मात्राएं	13 14	15 16	17 18	19 20	21 22	23 24
पात–कला	निष्क्राम	शम्या	ताल	प्रवेशक	निष्क्राम	सन्निपात

3:3:13:3) सम्पक्वेष्टक ताल का चतुष्कल स्वरूप–

ताल रूप	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ
मात्राएं	1 2 3 4	5 6 7 8	9 10 11 12	13 14 15 16
पात–कला	आ नि	वि प्रा	आ ता	वि शा
ताल रूप	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ
मात्राएं	17 18 19 20	21 22 23 24	25 26 27 28	29 30 31 32
पात–कला	आ नि	वि ता	आ नि	वि शा
ताल रूप	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ
मात्राएं	33 34 35 36	37 38 39 40	44 42 43 44	45 46 47 48
पात–कला	आ ता	वि प्रा	आ नि	वि सं

सम्पक्वेष्टक ताल षटपितापुत्रकम का ही प्रकार कहा जा सकता है, क्योंकि इस ताल के द्विकल तथा चतुष्कल का स्वरूप षटपितापुत्रकम ताल के द्विकल और चतुष्कल रूप के अनुसार ही है। इस तरह से कह सकते है के सम्पक्वेष्टक ताल का पातकला की उत्पत्ति षटपितापुत्रकम से हुई है **अर्थात्** अगर षटपितापुत्रक ताल की कलाओं से सन्निपात तो हटा दिया जाए तो बाकी शेष बची कलाविधि सम्पक्वेष्टाक ताल की पातकला होगी।

3:3:14) उद्‌घट्टम् उद्‌घट्टम ताल चाचपुटम ताल का भेद माना गया, पर त्रयस्त्र ताल की त्रिकल रू‍ है अथवा यह भी त्रयस्त्र जाति का ताल है। इसके यथाक्षर रूप तीनों वर्ण गुरू होते है (ऽ ऽ ऽ) और इसकी पातकला निष्क्राम, शम्या, शम्या है।

त्र्यस्त्रं सर्वगुरुं कृत्वा निष्कामं तत्र योजयेत्॥
शम्याद्वयं त्तस्त्वेष उद्‌घट्टः कथितो बुधैः ॥॥(1)

(1) शुक्ल शास्त्री, बाबूलाल(अनुवाद) / भरत–नाट्यशास्त्र / अध्याय– 31 / श्लोक–25

3:3:14:1) उद्घट्टम् ताल का यथाक्षर स्वरूप–

तालरूप	ऽ	ऽ	ऽ
तालाक्षर	उद्	घ्ट	टम्
मात्राएँ	1 2	3 4	5 6
पातकला	निष्क्राम	शम्या	शम्या

3:3:14:2) उद्घट्टम् ताल का द्विकल स्वरूप–

इसे त्रयस्त्र ताल छः विशिष्ट प्रकारों में षटकल रूप मान सकते है।

तालरूप	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ
मात्राएँ	1 2 3 4	5 6 7 8	9 10 11 12
पातकला	निष्क्राम शम्या	ताल शम्या	निष्क्राम सन्निपात

3:3:14:3) उद्घट्टम् ताल का चतुष्कल स्वरूप–

तालरूप	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ
मात्राएँ	1 2 3 4	5 6 7 8	9 10 11 12
पतकला	आ नि	वि श	आ ता
तालरूप	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ
मात्राएँ	13 14 15 16	17 18 19 20	21 22 23 24[(1)]
पतकला	वि श	आ नि	वि श

चतुष्कल उद्घट्टम् ताल को त्रयस्त्र ताल के विशिष्ट भेदों में से द्वादशकल रूप कह सकते है। वैसे भी इस ताल की उत्पत्ति चाचपुट से कही गयी है। इसका द्विकल तथा चतुष्कल रूप चाचपुट ताल के द्विकल और चतुष्कल समान ही है। इस प्रकार से प्रत्येक ताल के तीन–तीन भेद यथाक्षर, द्विकल तथा चतुष्कल होते है। ताल के यथाक्षर पादभाग के अर्न्तगत एक क्रिया द्विकल में दो क्रियाएँ तथा चतुष्कल परदभाग के प्रत्येक भाग में चार क्रियाएँ होती है, अथवा हर एक भेद के पादभाग के अर्न्तगत क्रियाओं की संख्या दो गुनी हो से द्विकल की तुलना में चतुष्कल में दोगुना समय लगता है। यथाक्षर रूपों में लय प्रकार नहीं होता, फिर भी ताल की मापन बढ जाने से उनकी मात्राओं के भीतर विश्राम काल दुगना होने के

(1) दाधीच डॉ0 पुरू/नाट्यशास्त्र का संगीत विवेचन/पृ0–68–73

कारण यथाक्षर को द्रुत, द्विकल को मध्य तथा चतुष्कल विलम्बित कहते है। अर्थात् यथाक्षर रूप चित्रा मार्ग के समान अर्थात् द्रुत लय, द्विकल रूप वार्तिक मार्ग अर्थात् मध्य लय और चतुष्कल रूप दक्षिण मार्ग अर्थात् विलम्बित लय के समान है। तीनों यथाक्षर रूपों में तथा मार्गों में क्रम अनुसार 40 अक्षर, 80 अक्षरकाल तथा 160 अक्षरकाल एक यमान होते हुए भी यथाक्षर रूप में ताल की लम्बाई बढ़ती हुई दिखाई देती है। जिस कारण से उनको द्रुत, मध्य तथा विलम्बित लय के रूप में जाना जाता है। मार्ग तथा यथाक्षर रूप में विशेष अन्तर है कि मार्ग के आधार पर ताल की लय तथा यथाक्षर रूप में ताल के पादभाग (खण्ड़) की मापन (लम्बाई) निर्मित होती है। इससे यह कह सकते है कि ताल का द्रुत, मध्य तथा विलम्बित रूप मार्ग में लय से तथा यथाक्षर कला में ताल की लम्बाई द्वारा लगने वाले काल (समय) से सिद्ध होता है।

एककल या यथाक्षर					**कुल अक्षरकाल**	**चित्रमार्ग**
कला	ऽ	ऽ	।	ऽ'		ऽ ऽ । ऽ'
अक्षरकाल	10	10	5	15	→40←	10 10 5 15
मात्रा	2	2	1	3	**अक्षरकाल**	2 2 1 3

द्विकल					**वार्तिक मार्ग**
कला	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ । ऽ'
अक्षरकाल	10 10	10 10	10 10	10 10	→80← 20 20 10 30
मात्रा	2 2	2 2	2 2	2 2	**अक्षरकाल** 4 4 2 6

चतुष्कल				**दक्षिण मार्ग**
कला	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ		ऽ ऽ
अक्षरकाल	10 10 10 10	10 10 10 10	→160←	40 40
मात्रा	2 2 2 2	2 2 2 2	**अक्षरकाल**	8 8
कला	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ		। ऽ'
अक्षरकाल	10 10 10 10	10 10 10 10	→160←	20 60
मात्रा	2 2 2 2	2 2 2 2	**अक्षरकाल**	4 12

डॉ0 सुभद्रा चौधरी ने अपनी पुस्तक (भारतीय संगीत में ताल और रूपविधान) में मार्ग तथा यथाक्षर के तीनों रूपों का एक–दूसरें से सम्बन्ध इस प्रकार तालिका द्वारा सिद्ध किया है।[1]

(1) चौधरी सुभद्रा/भारतीय संगीत में ताल और रूपविधान/पृ0–19

इस प्रकार नाट्यशास्त्र के ताल शास्त्र को वर्णित करने का प्रयास किया गया है, जिसके अन्तर्गत नाट्यशास्त्र में वर्णित सभी ताल लक्षण तथा तालों को विस्तारपूर्वक स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

निष्कर्ष– इसी प्रकार सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र में वर्णित ताल का अध्ययन करने के पश्चात् शेधार्थी द्वारा प्रस्तुत शोध में नाट्यशास्त्र में वर्णित ताल से संबन्धित श्लोक तथा जिन अध्यायों में ताल का वर्णन किया गया है, उनका अध्ययन तथा विवेचन किया गया है, जिनका संबन्ध ताल से है। शोध प्रबन्ध के प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत आरम्भ भाग में वह सभी अध्याय सम्मलित किये गए है जिनमें किसी भी रूप में अवनद्ध वाद्य, ताल, ताल सम्बन्धित शास्त्र व ताल शब्द का भी प्रयोग किया गया है। जिसके द्वारा ताल के विषय को ध्यानपूवर्क कुशलता के साथ समझा जा सके जो इस शोध प्रबन्ध तथा ज्ञान का विस्तार कर सके। नाट्यशास्त्र में मुख्य रूप से शोधार्थी को बारह अध्यायों के अन्तर्गत ताल सम्बन्धित जानकारी प्राप्त होती है, वह अध्याय इस प्रकार है– मंगलाचरण, प्रेक्षगृह के लक्षण, रंग देवताओं की पूजा, अमृतमंथन, पूर्वरंग विधान, चारीविधान, गतिप्रचार, कक्ष्यापरिधि तथा लोकधर्मी निरुपण, आतोद्यविधान, धुवाविधान, अवनद्धातोद्य विधानाध्याय, भूमिका विकल्पाध्याय। इसके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र के इक्कतिसवें अध्याय को व्याख्यित किया गया है। अध्याय के दूसरे भाग के अर्न्तगत तालाध्याय को वर्णित किया है, जिसमें नाट्यशास्त्र की तालों व उसके लक्षणों के साथ–साथ धुवाओं के अर्न्तगत प्रयोग व सप्त गीतों के साथ नाट्य में प्रयोग व महत्व को व्याख्यित किया गया है। तथा अन्त में नाट्यशास्त्र आधारित ताल शास्त्र का वर्णन उदाहरण सहित प्रस्तुत करने का विनम्र प्रयास शोधार्थी द्वारा किया गया है। ताल को केन्द्र में रखते हुए अध्ययन करने के पश्चात इस बात का ज्ञान प्राप्त होता है कि संगीत का आधार ताल है संगीत की कोई विधा ताल का सर्वोच्च स्थान है। जिस भरत मुनि द्वारा भी स्वीकारा गया है व नाट्यशास्त्र के अर्न्तगत दो मुख्य ताल चच्चतपुट तथा चाचपुट व उनके समिश्रण से अन्य तीन तालों का निर्माण होता है। इस प्रकार नाट्यशास्त्र में कुल पाँच तालों का वर्णन प्राप्त होता है।

****